CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

122

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड १५, अंक १

दिसम्बर १९९३ / कार्तिक-मार्गशीर्ष, २०५०

संपादक

सुरेंद्र बारलिंगे   राजेन्द्र प्रसाद   मो. प्र. मराठे

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

■ पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका = (नूतनमालिका)
(भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी, अमलनेर)

■ *संपादक* : सुरेन्द्र बारलिंगे ■ राजेन्द्र प्रसाद ■ मो. प्र. मराठे

सलाहकार संपादक मंडल :

■ धर्मेन्द्र गोयल ■ रमाकांत सिनारी ■ विजयकुमार भारद्वाज ■ शारदा जैन ■ संगमलाल पांडे ■ आर. बालसुब्रमणियन् ■ अशोक रा. केळकर ■ के. जे. शहा ■ नारायणशास्त्री द्राविड़ ■ के. सच्चिदानन्द मूर्ति ■ जी. सी. नायक ■ ग. ना. जोशी ■ मोहनलाल मेहता ■ जे. फाईस ■ सुमन गुप्ता ■ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : चन्द्रकांत बांदिवडेकर ■ सु. ए. भेलके

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए संपर्क करें, संपादक, परामर्श (हिन्दी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७.

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए :

संपादक, परामर्श (हिन्दी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११ ००७.
अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महिने के भीतर कार्यालय में मिल जाए, तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा ।

वार्षिक सदस्यता शुल्क :

(१) संस्थाओं के लिए	रु. ६०/–
(२) व्यक्तियों के लिए	रु. ५०/–
(३) एक प्रति	रु. १६/–

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १५००/–
व्यक्तियों के लिए रु. ५००/–

■ राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें ।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निवेदन

प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर, जब तक पुणे विश्वविद्यालय के अधिकार क्षेत्र के अधीन रहा तब तक उक्त विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के एक अंश के रूप में कार्यरत रहा। हाल ही में वैधानिक तथा प्रशासकीय दृष्टियों से आवश्य बातों की पूर्तता कर उक्त केन्द्र का उत्तर महाराष्ट्र विश्वविद्यालय, जलगाँव के अधिकार-क्षेत्र में हस्तांतरण संपन्न हो गया है। इसको ध्यान में लेते हुए पत्रिका के स्वामित्व-अधिकार के बारे में पुणे विश्वविद्यालय की अनुमति से पत्रिका के पंद्रहवें खण्ड के प्रथमांक से उचित परिवर्तन किया जा रहा है और वह इसके आगे प्रकाशित होने वाले पत्रिका के हरेक अंक के कवर पृष्ठ दो तथा तीन पर एवं स्वामित्व-अधिकार से सम्बन्धित प्रतिवर्ष एक बार प्रकाशित की जाने वाली घोषणा में देखने को मिलेगा। आशा है पाठक तथा ग्राहक इस परिवर्तन को उचित रूप में ग्रहण कर पत्रिका को अपना अविचल सहयोग देते रहेंगे।

सम्पादक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY

PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आचार्य दिग्नाग के दर्शन में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष–एक समीक्षा

बौद्ध दर्शन में स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष का एक प्रकार माना गया है। स्वसंवेदन अपरोक्ष अनुभूति की एक ऐसी स्थिति है जो न तो इन्द्रियों पर आश्रित होती है और न ही योगी ज्ञान के अन्तर्गत आ पाती है। फिर भी वह प्रत्यक्ष ज्ञान ही है और इसलिए स्वसंदेवन को प्रत्यक्ष का ही एक प्रकार माना गया है।

सम्पूर्ण विज्ञानवादी धारा सूक्ष्म रूप से स्वसंवेदन के सिद्धान्त पर आधारित है, इसलिए सभी विज्ञानवादी विचारक इसका समर्थन और निरूपण करते हैं।

दिग्नाग से पूर्व विज्ञानवाद में स्वसंवेदन संबंधित विचार अपने पूर्ण विकसित रूप में अवस्थित नहीं था। वस्तुतः दिग्नाग ने ही स्वसंवेदन संबंधित विचार के तार्किक विश्लेषण का कार्य प्रारम्भ किया, जिसे बाद के विद्वानों ने विश्लेषित और विवेचित कर सम्पूर्णता प्रदान की।

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की दृष्टि से जब हम दिग्नाग के साहित्य का अवलोकन करते हैं तो पाते हैं कि इसका अलग से कोई लक्षण नहीं दिया गया है। दिग्नाग ने अपने ग्रन्थों में 'स्वसंवेदन प्रत्यक्ष' का कोई लक्षण तो नहीं दिया है पर इससे यह नहीं समझा जा सकता है कि वे ज्ञान की स्वसंवेदनता को नहीं मानते हैं। वस्तुतः ज्ञान को दिग्नाग स्वसंवेदन रूप ही मानते हैं, पर प्रत्यक्ष के एक प्रकार के रूप में " स्वसंवेदन प्रत्यक्ष" का अलग से कोई लक्षण नहीं देते हैं।

आचार्य दिग्नाग *प्रमाण समुच्चय* में कहते हैं– मानसं चार्थरागादि स्वसंवित्तिरकल्पिका"[१] और पुनः इस पर अपनी *वृत्ति* में लिखते हैं– "मानसमपिरूपादि विषयालम्बनम्। विकल्पकमनुभवाकार प्रवृत्त रागादिषु च स्वसंवेदनमिन्द्रियानपेक्षत्वाद् मानसं प्रत्यक्षम्।" अर्थात्, अविकल्पिका, अर्थरागादि स्वसंवित्ति मानस प्रत्यक्ष है और रूपादि विषय को आलम्बन बनाता हुआ अनुभवाकार रूप में प्रवृत्त मानस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रत्यक्ष भी निर्विकल्पक अथवा कल्पनापोढ़ है (तथा) रागादि का स्वसंवेदन (भी) मानस प्रत्यक्ष है, क्योंकि इसे किसी इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं है, वह किसी इन्द्रिय पर आश्रित नहीं है ।

आचार्य दिग्नाग द्वारा *प्रमाणसम्मुचय* तथा उसकी *वृत्ति* में कही गयी बात की व्याख्या को लेकर बौद्ध आचार्यों में दो मत देखने को मिलते हैं । प्रथम मत जिनेन्द्रबुद्धि का है, जिन्होंने मानस प्रत्यक्ष के विषय में धर्मकीर्ति द्वारा संशोधित व्याख्या के आलोक में दिग्नाग के लक्षण पर *प्रमाणसमुच्चय टीका* लिखी है और द्वितीय मत प्रज्ञाकरगुप्त का है जिन्होंने *अलंकार भाष्य* में दिग्नाग के मानस प्रत्यक्ष के लक्षण की व्याख्या की है ।

जिनेन्द्रबुद्धि ने आचार्य दिग्नाग के *प्रमाण समुच्चय* की *विशालामलवती* नामक अपनी टीका में "अर्थरागादि स्वसंवित्ति" को "अर्थसंवित्ति" एवं "रागादिस्वसंवित्ति" के रूप में व्याख्यायित किया है । "अर्थरागादि स्वसंवित्ति" इस समस्त पद को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं– "अर्थ शब्दज्ञेय का पर्याय है । रागादि के स्व को "रागादिस्व" (रागादि का जो अपना है, स्व है) कहते हैं । स्व शब्द आत्मवाचक है । इस प्रकार अर्थ और रागादि के स्व की संवित्ति (= अर्थ संवित्ति एवं रागादि-स्वसंविति) के अर्थ में "अर्थरागादिस्वसंवित्ति" को समझना चाहिए । इसके द्वारा जाना जाता है या संवेदित किया जाता है, अतः इसे संवित्ति कहते हैं । "संवित्ति" प्रत्येक के साथ (अर्थात् अर्थ के साथ और रागादि के स्व के साथ) सम्बद्ध की जाती है । वह निर्विकल्पक (संवित्ति) मानस प्रत्यक्ष है ।"[२]

जिनेन्द्रबुद्धि दिग्नाग के स्ववृत्ति के अंश की व्याख्या करते हुए लिखते हैं– "रूपादि विषयाणां विकारः रूपादि विषय विकारः। स आलम्बनं यस्य तत् तथोक्तम्" और बतलाते हैं कि "रूपादि विषयालम्बनम्" में वहुव्रीही समास है तथा "रूपादिविषयाणां विकारः" में विकार षष्ठी है ।[३]

आचार्य प्रज्ञाकर *प्रमाणवार्तिकालंकार* नामक अपने प्रमाणवार्तिक भाष्य में दिग्नाग के लक्षण का अर्थ करते हुए लिखते हैं– रागादि के स्वरूप का संवेदन, चूँकि वह अनुभवाकार होने से निर्विकल्पक होता है, अतः मानस प्रत्यक्ष है ।[४] जिनेन्द्रबुद्धि के अनुसार स्वसंवित्ति में "स्व" का अर्थ "स्वरूप" है, "रागादिका स्व" नहीं। पुनः, जिनेन्द्रबुद्धि स्वसंवित्ति को केवल रागादि के साथ जोडते हैं, अर्थ के साथ नहीं जोड़ते । इस प्रकार उनके अनुसार मानस प्रत्यक्ष में दो वातें हैं– (१) अर्थ की संवित्ति (२) रागादि की स्वसंवित्ति । जिनेन्द्रबुद्धि के लिए अर्थ संवित्ति का सवाल ही नहीं उठता है और चूँकि रागादि की स्वसंवित्ति सिद्धान्त के अनुकूल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, इसलिए अर्थ-संवित्ति और रागादिस्वसंवित्ति ऐसा वे दिग्नाग के लक्षण का आशय समझते हैं। चूँकि जिनेन्द्रबुद्धि को धर्मकीर्ति के बाद का आचार्य माना गया है और धर्मकीर्ति "रागादि की स्वसंवित्ति" को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के अन्तगर्त ही मानते हैं, मानस प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नहीं, इसलिए जिनेन्द्रबुद्धि ऐसा समझते हैं कि आचार्य दिग्नाग मानस प्रत्यक्ष को द्विविध मानते हैं– प्रथमतः बाह्य अर्थ का बोधक और द्वितीयतः राग-काम सदृश गौण मानसिक क्रियाओं का बोधक।[५] बोध एवं संवित्ति को शेरबात्स्की महोदय feeling के अर्थ में लेते हैं। संवित्ति का अर्थ feeling regarding an object कहते हैं।[६] इनमें से प्रत्यक्ष कल्पनापोढ़ होने से प्रत्यक्ष है।

चूँकि जिनेन्द्रबुद्धि के पहले ही दिग्नाग के मानस प्रत्यक्ष के सिलसिले में मीमांसकों ने दोष निकाला था, और इसका प्रत्युत्तर आचार्य धर्मकीर्ति ने दिया भी था, इसलिए ऐसे परिप्रेक्ष्य में जिनेन्द्रबुद्धि ने अपनी व्याख्या की ओर विपक्षियों को धर्मकीर्ति के द्वारा दिए गए प्रत्युत्तरों को भी शामिल किया।

राग, द्वेष, मोह, सुख, दुःखादि में जो स्वसंवेदन होता है वह इन्द्रिय निरपेक्ष होने से मानस प्रत्यक्ष है यह आचार्य दिग्नाग की मान्यता थी। इसलिए प्रज्ञाकर इसका विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि सुखादि जहाँ पर अर्थ की तरह रहते हैं, वहाँ मानस प्रत्यक्ष है। अर्थात् सुखादि जब अर्थ-रूप हों, तब उसमें इदम् के रूप में जो ज्ञान होता है वह चूँकि स्वरूप (अपने असाधारण रूप) का ग्रहण साक्षात् ढंग से करता है, अतः मानस प्रत्यक्ष कहलाता है।[७]

इस तरह हम देखते हैं कि प्रज्ञाकर के अनुसार दिग्नाग के "स्वसंवित्ति" में "स्व" का अर्थ स्वरूप है। प्रज्ञाकर की मान्यता यह भी है कि सुखदुःखादि में जो स्वसंवेदन (स्वरूप संवेदन) होता है वह मानस प्रत्यक्ष है और सुख इन्द्रिय के द्वारा नहीं होता है। परन्तु आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि इन्द्रिय से ही सुख या दुःख की प्राप्ति होती है। इस पर प्रज्ञाकर कहते हैं कि "धर्मकीर्ति जब ऐसा कहते हैं तो सुखादि शब्द से जो सुख का हेतु रस है मात्र उसे नहीं कहा जा रहा है, क्योंकि इन्द्रिय विज्ञान जब होता है तो अभी विकल्प नहीं पैदा हुआ फिर भी "यह मीठा है", "यह कटु है" ऐसा प्रतिभास होता है।" इसिलिए प्रज्ञाकर के अनुसार "मानस प्रत्यक्ष" अनीन्द्रिय प्रत्यक्ष है और उसमें अर्थ एवं रागादि के स्वरूप का अनुभवाकार होता है, यह इसीलिए निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। प्रज्ञाकर के अनुसार इसमें दो आकार होते हैं– (१) विषयगत आकार (२) मन में निहित आकार। यह आकार-द्वय ही प्रज्ञाकर के अनुसार मानस प्रत्यक्ष का "इदम्" होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"मानसंचार्थरागादि स्वसंवित्तिरकल्पिका" यह आचार्य दिग्नाग ने मानस प्रत्यक्ष का लक्षण किया है। इस लक्षण का अर्थ लोग यह लगाते हैं कि इसमें "मानस प्रत्यक्ष और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष दोनों का लक्षण किया गया है– "मानसंचार्थ" से मानस का और "रागादिस्वसंवित्तिरकल्पिका" से स्वसंवेदन के स्वरूप का उल्लेख किया गया है। इसी तरह दिग्नाग की *स्ववृत्ति* है "मानसमपिरूपादि विषया-लम्बनम्। विकल्पकमनुभवाकार प्रवृत्तं" इस अंश को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का लक्षण समझा गया। परन्तु प्रज्ञाकर ने अपनी व्याख्या में इन बातों का विश्लेषण दूसरे ढ़ंग से किया। प्रज्ञाकर ने अपनी व्याख्या से सारी मान्यताओं को उलट कर रख दिया। धर्मकीर्ति का प्रभाव लोगों पर इतना अधिक गहराई तक पड़ा था कि लोग दिग्नाग की व्याख्या को भी धर्मकीर्ति की व्याख्या के आलोक में देखने लगे थे। उनके प्रभाववश लोग ऐसा समझने लगे थे कि धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थों में आचार्य दिग्नाग द्वारा कही गयी बातों की ही व्याख्या की है। परन्तु आचार्य प्रज्ञाकर ने धर्मकीर्ति की व्याख्या से हटकर दिग्नाग के बातों को प्रस्तुत किया। आचार्य प्रज्ञाकर कहते हैं कि दिग्नाग की व्याख्या केवल मानस प्रत्यक्ष के प्रकरण के लिए कही गयी है, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के प्रकरण के लिए नहीं। प्रज्ञाकर की तरह जिनेन्द्रबुद्धि भी उपरोक्त अंश की चर्चा मानसप्रत्यक्ष के प्रसंग में ही करते हैं। जिनेन्द्रबुद्धि धर्मकीर्ति के विचारों से प्रभावित होने के बावजूद भी दिग्नाग की व्याख्या को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के प्रसंग में नहीं लेते हैं। इस तरह बौद्ध परम्परा से भी दिग्नाग के अंश को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की व्याख्या करनेवाला नहीं माना जा सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या दिग्नाग स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष के एक प्रकार के रूप में नहीं स्वीकार करते हैं? क्या उनके अनुसार प्रत्यक्ष के तीन ही प्रकार हैं?

स्पष्ट है कि आचार्य दिग्नाग स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का अलग से कोई लक्षण नहीं देते हैं, परन्तु वे ज्ञान की स्वसंवेदनता को स्वीकार करते हैं। आचार्य दिग्नाग स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष के प्रकार के रूप में मानना आवश्यक नहीं समझते हैं। वे अपने मानस प्रत्यक्ष के लक्षण पर लिखी *स्ववृत्ति* में ऐसा मानते हैं कि सुख दुःखादि का मानस प्रत्यक्ष होता है, परन्तु धर्मकीर्ति और उनके टीकाकारों ने स्वसंवेदन की जो व्याख्या की है उससे यह स्पष्ट होता है कि सुख का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है तथा उसके अतिरिक्त अन्य सभी चित्तावस्थाओं का भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। इससे यह कठिनाई सामने आती है कि दिग्नाग जिसे मानस प्रत्यक्ष का विषय मानते थे, धर्मकीर्ति और उनके अनुयायी उसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय कहते हैं और मानस प्रत्यक्ष और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को अलग-अलग प्रकार बतलाते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दिग्नाग के मानस प्रत्यक्ष के लक्षण की मीमांसक आदि ने आलोचना की है और उसका प्रत्युत्तर धर्मकीर्ति और उनके बाद के आचार्यों ने दिया है। धर्मकीर्ति ने दिग्नाग के मानस प्रत्यक्ष को आलोचनाओं से बचाने के लिए एक जटिल परिभाषा दी और मानस प्रत्यक्ष और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष को अलग कर दिया।[८]

आचार्य धर्मकीति के *प्रमाणवार्तिक* के श्लोकों में आबद्ध दोषों की चर्चा आचार्य प्रज्ञाकर अपने *अलंकार-भाष्य* में करते हैं। भाट्ट मीमांसक दिग्नाग की व्याख्या में दो दोषों को इंगित करते हैं–[९]

१) गृहीत– ग्राहिता का दोष

२) अन्धबधिरादि के अभाव का दोष।

इन दोषों से मानस प्रत्यक्ष को मुक्त करने के लिए आचार्य धर्मकीर्ति ने बाद में इसका नया किन्तु जटिल लक्षण किया है। धर्मकीर्ति का लक्षण इस प्रकार है– "स्वविषयान्तरविषयसहकारिणेन्द्रिय ज्ञानेन समनन्तर प्रत्ययेन जनितं तन्मनो विज्ञानम्।"[१०] अर्थात्, "स्व (अपने) विषय के अनन्तर विषय के सहकार इन्द्रिय ज्ञान का उसके अपने विषय का अनन्तरवर्ती विषय सहकारी है और जो स्वयं समनन्तर प्रत्यय है उस इन्द्रिय ज्ञान से जनित ज्ञान को मनोविज्ञान कहते हैं। "धर्मकीर्ति के इस लक्षण की व्याख्या विनीत देव, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, मनोरथनन्दि, दुर्वेकमिश्र तथा मोक्षाकरगुप्त आदि ने भी की है।

दिग्नाग ने मन को इन्द्रिय मान कर मानस प्रत्यक्ष की विवेचना की है पर जब मन केवल विज्ञान संतति (मनोविज्ञान) है और विज्ञान स्वसंवेदन रूप होता है, तो मानस प्रत्यक्ष स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में समा जाता है। इसी कारण जितारि ने मानस प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष का एक प्रकार भी नहीं माना है। फिर बाद के महायान दार्शनिकों ने भी इसकी चर्चा आवश्यक नहीं समझी है।

आचार्य दिग्नाग अपनी *वृत्ति* में यह स्वीकार करते हैं कि सुखदुःखादि का मानस प्रत्यक्ष होता है। किन्तु धर्मकीर्ति और उनके टीकाकारों ने कहा है कि सुखादि का स्वसंदेवन प्रत्यक्ष होता है और उसके अतिरिक्त अन्य चित्तावस्थाओं का भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। ऐसा कहने से यह कठिनाई सामने आती है कि दिग्नाग के अनुसार जो मानस प्रत्यक्ष का विषय है वही धर्मकीर्ति और उनके अनुयायियों के अनुसार स्वसंवदेन का विषय हो जाता है। इस तरह धर्मकीर्ति का अर्थसंवित्ति एवं रागसंवित्ति को अलग करके मानस प्रत्यक्ष की एक जटिल परिभाषा देना और कुछ नहीं सिर्फ स्वपक्ष की रक्षा का एक प्रयास कहा जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस तरह स्पष्ट होता है कि आचार्य दिग्नाग प्रत्यक्ष को तीन ही प्रकार मानते थे– (१) इन्द्रिय प्रत्यक्ष, (२) मानस प्रत्यक्ष और (३) योगी प्रत्यक्ष । पुनश्च, धर्मकीर्ति जिसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहते हैं वह दिग्नाग के अनुसार मानस प्रत्यक्ष ही है । इस तरह स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष का एक अलग प्रकार मान कर उसकी व्याख्या करने का काम मूलतः धर्मकीर्ति ने ही किया है । पर इससे यह नहीं माना जा सकता है कि दिग्नाग ज्ञान के स्वसंवेदनत्व को नहीं मानते हैं । वास्तव में ज्ञान की स्वसंवेदनता को मानते हुए भी दिग्नाग इसे प्रत्यक्ष के एक प्रकार के रूप में नहीं मानते हैं ।

द्वारा, श्री. शिवरतन प्रसाद
वेलन बाजार,
मुंगेर–८११२०१
बिहार

लक्ष्मीकुमारी साह

टिप्पणियां

१. *प्रमाण समुच्चय*, १.६ प्रथम पंक्ति

२. *द्वादशारं नयचक्रम्*, भोट परिशिष्ट पृष्ठ १०५
—मानसं चेत्यादि । च शब्दः समुच्चयार्थः । अर्थ शब्दोऽयं ज्ञेयपर्यायः । रागादीनां स्वं रागादिस्वम्। स्व शब्दोऽयमात्मवाचकः । अर्थश्च रागादि स्व च, तत्संवित्तिरर्थरागादि स्वसंवित्तिः । संवेद्यते ज्ञायते नयेति संवित्तिः । 'संवित्तिः' प्रत्येकमभिसम्बध्यते । अविकल्पिका च सा मानसं प्रत्यक्षम्।

३. *वही:* पृष्ठ १०५, पाद टिप्पणी ३ "समुदायविकार पष्ठ्याश्च....।

४. *प्रमाणवार्तिक भाष्य*, पृष्ठ ३०३, "मानसम् चार्थ रागादिस्वरूप सम्वेदनम्, कल्पकत्वात् प्रत्यक्ष अनुभवाकाप्रवृतेः ।"

५. *Dignāga on Perception* by M. Hattori
कारिका १०६, प्रथम पंक्ति पर पाद टिप्पणी । १.४५, पृष्ठ- ९२-९३ भी ।

६. *Buddhist Logic, Vol. 2.*

७. प्रतिभासमान एव प्रबन्धेन सुखादाविदं सुखादीनि यदा विज्ञानमधिमुक्तिरूपमुपजायेत तदा कस्मान्न सविकल्पकता । अत्र मानसं प्रत्यक्षमर्थ इवेति वर्ण्णितं । तथा हि । अर्थरूपे सुखादौ च यदेदभिरिति वर्त्तते । स्वरूपग्रहसाक्षात्वे सर्वन्तन्मानसम्मतं ॥
प्रमाणवार्तिक भाष्यम् ३०८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

८. *The Buddhist Philosophy of Universal Flux. p. 311-3*

९. दुर्वेकमिश्र; यैर्मीमांसकैराचार्यदिग्नागीये मानसप्रत्यक्षलक्षणे गृहीतग्राहित्वलक्षणेऽप्रामाण्यनिमित्तं दोष उद्भावित: । लक्षणग्रहणस्योपलक्षणत्वात् मानसप्रत्यक्षाभ्युपगमेऽपि यो दोषोऽन्धबधिराद्यभावलक्षण: सोऽपि द्रष्टव्य: । यैश्चमीमांसकै:..... अवांतरजातिभेदमिति यावत् । धर्मोत्तरप्रदीपे, पृ. ५६.

१० *न्यायबिन्दु १०९, प्र.वा.भा.* पृ. ३०५ पंक्ति १-३.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY

PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न्याय एवम् अवयव

कथा के वाद, जल्प एवं वितण्डा ये तीन[1] प्रकार दार्शनिकों ने माने हैं। पक्ष अथवा प्रतिपक्ष को सिद्ध करने के लिये प्रश्न एवं प्रतिप्रश्न, उत्तर एवं प्रत्युत्तर का संन्दर्भ[2] ही वाद-कथा है। इस क्रम में तत्त्व-निर्णय के लिये उत्सुक लोग प्रमाण एवं तर्क के द्वारा ज्ञात उचित पक्ष का साधन एवं अनुचित पक्ष का सर्वथा निषेध करते हैं। यह पक्ष विशेष का साधन एवं पक्ष विशेष का निषेध प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन इन पाँच अवयवों से युक्त होने के साथ-साथ सिद्धान्त-विरोधी भी नहीं होना चाहिये।

जिस प्रकार किसी पौधे की सुरक्षा के लिये हम उस पौधे को काँटों से घेर देते हैं उसी प्रकार उचित पक्ष को सिद्ध करने के लिये जल्प-कथा एवं वितण्डा कथा का उपयोग[3] किया जाता है। जल्प-कथा में भी प्रमाण एवं तर्क के सहयोग से पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग करके सिद्धान्तपक्ष का साधन एवं प्रतिपक्ष का प्रतिषेध किया जाता है; परन्तु विरोधी पक्ष का प्रतिषेध करते समय हम छल, जाति एवं निग्रह-स्थानों का भी भरपूर उपयोग कर सकते हैं तथा अपने सिद्धान्त-पक्ष को दृढतापूर्वक व्यवस्थित कर लेते हैं। यही वाद-कथा की अपेक्षा जल्प-कथा में विशेष है।

हमने वाद एवं जल्प-कथा में पक्ष तथा प्रतिपक्ष की स्पष्ट स्थिति देखी। ठीक इसके विपरीत वितण्डा कथा में प्रतिपक्ष अर्थात् द्वितीय पक्ष की स्थापना[4] नहीं देखी जा सकती। इस वितण्डा कथा का उद्देश्य अपने पक्ष की स्थापना भी नहीं होता है। इस कथा में मात्र पर पक्ष का खण्डन ही अभिप्रेत होता है। परपक्ष के खण्डन से विजय की प्राप्ति होती है। जंल्प तथा वितण्डा-कथा को इसी लिये विजय चाहने वालों की कथा कहा गया है। इस कथा में भी पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग तथा छल-जाति-निग्रह स्थानों का उपयोग सहजरूप में होता है।

जिनसे मोक्ष प्राप्ति में उपयोगी वेद-प्रामाण्य तथा आत्मा आदि तत्त्वों की सिद्धि होती है ऐसी इन तीनों कथाओं का प्रवर्तन पूरी तरह पाँच अवयवों पर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आधारित है । प्रथम अवयव 'प्रतिज्ञा' अपने कारण शब्द प्रमाण का सूचक है। 'हेतु' नामक द्वितीय अवयव अपने कारण अनुमान-प्रमाण की सूचना देता है । तीसरा अवयव "उदाहरण" अपने कारण प्रत्यक्ष-प्रमाण का द्योतक है । ये सभी अवयव मिलकर एक ही अर्थ को सिद्ध करने का सामर्थ्य[६] रखते हैं । यह तथ्य "निगमन" नामक पाँचवें अवयव से स्पष्ट होता है । सभी अवयवों के मूल में प्रमाणों के होने से इन पाँच अवयवों को प्रमाण[७] भी कह दिया जाता है । प्रमाणों के द्वारा अर्थ का परीक्षण[८] ही 'न्याय' है यह न्यत्य-भाष्यकार महर्षि वात्स्यायन का मन्तव्य है । यहाँ प्रमाण शब्द पाँच अवयवों का ही बोधक माना गया है। प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों के द्वारा अर्थ की अर्थात् लिङ्ग की परीक्षा ही न्याय है ।

पञ्चावयववाक्यों को "परम-न्याय"[९] स्वीकार किया गया है । इन पाँच अवयव-वाक्यो में परमत्व या उत्कर्ष-विशेष यही है कि विप्रतिपन्न पुरुषों[१०] को इन पाँच अवयव वाक्यों से सत्य ज्ञान हो जाता है । न्याय-शास्त्र में निरूपित पाँच अवयव-वाक्यों के सहयोग से ही तत्त्वों से सम्बद्ध अनेक प्रकार के भ्रम निरस्त हो जाते हैं । इस प्रकार अवयवों का महत्त्व स्पष्ट है ।

कुछ लोग प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन के अतिरिक्त जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन एवं संशयव्युदास नामक पाँच अवयव और मानते हैं। इस प्रकार ये लोग दस अवयव स्वीकार करते हैं । परन्तु, विप्रतिपन्न पुरुषों को तत्त्वों का सत्य-ज्ञान कराने में, जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन एवं संशयव्युदास के समर्थ न होने के कारण ही इनको अवयव नहीं माना जा सकता है । कुछ विद्वानों के अनुसार तीन ही अवयव हैं, पर इनका मत, अभीष्ट वाक्यार्थ की निष्पत्ति प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयववाक्यों से ही सम्पन्न होने के फलस्वरूप नितान्त उपेक्षणीय हैं ।

जिस प्रकार सूत्र वस्त्र का अवयव होते हैं, क्या इसी तरह प्रतिज्ञा आदि, वाक्य के अवयव या समवायिकारण हैं ? इस प्रकार सहज प्रश्न उपस्थित होता है । तथापि (१) प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयव-वाक्यों का अवयव या समवायिकारण नहीं है अपितु पाँच अवयव वाक्यों का एकदेश मात्र है, (२) इसे 'अवयव' नाम इस लिये दिया जाता है क्यों कि जिस प्रकार सूत्र सूत्रों के समुदाय (एक वस्त्र) का समुदायी है उसी प्रकार एक विवक्षित अर्थ का बोध कराने में प्रतिज्ञा आदि भी, पाँचवाक्यसमुदाय के समुदायी हैं । ऐसा मानने से उक्त प्रश्न समाहित हो जाता है । इस प्रकार प्रतिज्ञा आदि वाक्यों को अवयव इसी लिये कहा जाता है क्यों कि ये अवयव-जैसे[११] हैं, यह तथ्य निःसन्दिग्ध सिद्ध होता है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किसी भी तत्त्व का ज्ञान कराने के लिये हम उस तत्त्व का लक्षण बताते हैं। उसके भेद कितने सम्भव हैं, उसका स्वरूप क्या है, इस तरह के विचार भी हम इसी क्रम में कर लेते हैं। किसी भी तत्त्व से सम्बद्ध इस प्रकार के विचार को ही हम उस तत्त्व का निरूपण कहते हैं। जब हम किसी तत्त्व का निरूपण करते हैं तो उसके पहले किस तत्त्व का निरूपण हुआ है यह हम अवश्य देखते हैं। ऐसा करना इस लिये अनिवार्य है क्यों कि पूर्व में सम्पन्न विचार एवं बाद में होने वाले विचार में परस्पर सङ्गति का होना विचार की उत्तमता की दृष्टि से अपेक्षित होता है।

प्रस्तुत पसङ्ग में अवयवों का निरूपण करने के पूर्व अनुमान का निरूपण किया गया है। अनुमान स्वार्थ तथा परार्थ भेद से दो प्रकार का माना जाता है। नैयायिकों के मतानुसार जब कोई व्यक्ति स्वयं ही अनुमिति करता है तब उसकी इस अनुमिति का कारण-अनुमान– स्वार्थानुमान होता है। जब स्वार्थानुमान के द्वारा कोई व्यक्ति अनुमिति कर लेने के अनन्तर अपने किसी मित्र को अनुमिति कराने के उद्देश्य से पञ्चावयव-वाक्यों का प्रयोग करता हुआ अनुमान कराता है, तब इस अनुमान को हम परार्थानुमान कहते हैं।

इन दो अनुमानों में परार्थानुमान 'न्याय' के द्वारा सिद्ध'[१] होता है। इसी लिये अनुमान के निरूपण के अनन्तर कारणता-सङ्गति से न्याय एवं इसके अवयवों का निरूपण किया गया है। जब हम कहते हैं कि परार्थानुमान न्याय-साध्य है तब हम यह मानते हैं कि किसी विषय पर विचार की अवस्था में वादी प्रतिवादी के बीच बैठे निर्णायक को विवादित साध्य का निश्चय परार्थानुमान से होता है। निर्णायक को होने वाला यह परार्थानुमान, वादी के द्वारा प्रयोग किये गये न्यास से उत्पन्न शाब्दबोध के द्वारा होता है। न्याय-दर्शन में निर्णायक को होने वाला यह अनुमिति का चरम-कारण-हेतुविषयक-परामर्श ही परार्थानुमान माना गया है। जो लोग ज्ञान के विषय हेतु को ही अनुमान मानते हैं, उनके सिद्धान्त में भी ज्ञान -विषय हेतु रूप अनुमान– परार्थानुमान न्याय-साध्य माना ही जायेगा। हेतु में विशेषण-रूप ज्ञान यतः न्याय का साध्य है, अतः इस परामर्श से विशिष्ट हेतु को भी न्याय-साध्य मानना सर्वथा उपयुक्त ही है।

कुछ आचार्य अनुमान शब्द का अर्थ अनुमिति मानते हैं। इस अनुमिति को ये लोग परार्थ मानते हैं। जब किसी विषय पर वादी एवं प्रतिवादी के बीच विचार आरम्भ होता है तब निर्णायक को विवादित विषय का सन्देह होता है। इस सन्देह की निवृत्ति वादी के द्वारा प्रयुक्त समस्त न्याय-वाक्यों को सुनने के अनन्तर निर्णायक को होने वाली अनुमिति से होती है यतः "पर" अर्थात् मध्यस्थ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के साध्य-संशय निवृत्ति रूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाली यह अनुमिति होती है, अतः इस अनुमिति को हम "परार्थ" मानते हैं।

जब वादी और प्रतिवादी परस्पर विचार के लिये उद्यत होते हैं तब वादी के द्वारा प्रयुक्त न्याय-वाक्य से प्रतिवादी को अनुमिति होती है। यह अनुमिति 'पर' अर्थात् प्रतिवादी के साध्य-संशय निवृत्ति रूप प्रयोजन को सिद्ध करती है। इस प्रकार प्रतिवादी को होने वाली अनुमिति भी "परार्थ" मानी जाती है। न्याय का प्रयोग कर के मध्यस्थ को अनुमिति कराना भी न्याय-ज्ञान का प्रयोजन है। इस प्रकार न्याय-वाक्य में अनुमिति की कारणता भी सिद्ध होती है। अनुमिति (परार्थानुमिति) रूप कार्य के निरूपण के बाद न्याय-रूप कारण के निरूपण में 'कारणता' सङ्गति है, यह भी अबतक के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। परार्थानुमान के निरूपण के बाद न्याय के निरूपण में "प्रसङ्ग" सङ्गति भी मानी जाती है। किसी पदार्थ के निरूपण के अनन्तर हम ऐसे पदार्थ का निरूपण 'प्रसङ्ग' सङ्गति' से करते हैं, जिसका स्मरण उस समय अवश्य हो तथा हम उसकी उपेक्षा किसी भी स्थिति में न कर सकें। प्रस्तुत सन्दर्भ में परार्थानुमान रूप कार्य का निरूपण करने के अनन्तर इसके कारण न्याय तथा अवयवों का स्मरण हो जाता है। साथ ही न्याय एवं अवयवों के उपेक्षणीय न होने के कारण इनका निरूपण प्रसङ्ग-सङ्गति से किया जाता है, यह भी मानना उचित ही है।

किसी भी तत्त्व का निरूपण प्रायः उस तत्त्व के लक्षण से प्रारम्भ होता है। न्याय का निरूपण करने के लिये न्याय का लक्षण क्या हो सकता है, यह विचारणीय है। कुछ विचारक, "समस्त" रूपों से युक्त लिङ्ग का प्रतिवादक वाक्य" (समस्तरूपोपन्नलिङ्गप्रतिपादक वाक्य) ही न्याय है, ऐसा मानते हैं। लिङ्ग या हेतु में न्यायदर्शन के अनुसार पाँच रूप या धर्म माने गये हैं। ये पाँच रूप– पक्ष-सत्त्व, सपक्ष-सत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितत्व तथा असत्प्रतिपक्षितत्त्व नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पाँच रूपों से विशिष्ट लिङ्ग अथवा हेतु है, यह ज्ञान जिस वाक्य-समूह से होता है, उसे ही हम 'न्याय' कहते हैं। अब तक की चर्चा से "समस्तरूपोपपन्न-लिङ्गप्रतिपादकवाक्यत्व" न्याय का लक्षण है यह स्पष्ट हो जाता है।

न्याय का यह लक्षण निर्दुष्ट है या नहीं यह विचार करते समय इस न्याय-लक्षण का लक्ष्य "प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन-वाक्य का समूह" है यह अवश्य जान लेना चाहिए। 'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्' इस स्थल में 'पर्वतो वह्निमान्' यह प्रतिज्ञा वाक्य है। "धूमात्" यह हेतु-वाक्य है। 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यथा महानसम्' यह उदाहरण-वाक्य है। "तथा चायम्" यह उपनय-वाक्य है और 'तस्मात्तथा' यह निगमन-वाक्य है। इन पाँच वाक्य-समूहों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से धूम हेतु, पक्ष-सत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितत्व एवं असत्प्रतिपक्षितत्व रूप पाँच धर्मों से विशिष्ट है यह ज्ञात हो जाता है ।

"तथा चायम्" अर्थात् वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत है" इस उपनय-वाक्य से धूम हेतु में पक्ष सत्त्व का ज्ञान होता है । "यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यथा महानसम्" इस उदाहरण वाक्य से धूम हेतु सपक्ष महानस में है तथा विपक्ष अर्थात् जहाँ वह्नि– साध्य का अभाव निश्चित है, वहाँ नहीं है यह निश्चित हो जाता है। उदाहरण-वाक्य इस तरह सपक्ष-सत्त्व एवं विपक्षासत्त्व का बोध सम्पन्न करा देता है । "तस्मात्तथा" अर्थात् वह्निव्याप्य धूम के पर्वत में होने से पर्वत वह्निमान् है, इस निगमन वाक्य से धूम हेतु में अबाधितत्व एवं असत्प्रतिपक्षितत्व"[5] इन दो रूपों का ज्ञान सहज रूप से सभी को हो जाता है । इस तरह उपनय-वाक्य, उदाहरण-व्याक्य, एवं निगमन-वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि धूम हेतु उपर्युक्त पाँच रूपों से विशिष्ट है । यदि तीन वाक्यों के समूह से, हेतु पाँच रूपों से विशिष्ट है यह ज्ञात होता है तो प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों के समूह से भी "हेतु पाँच रूपों से विशिष्ट है" यह स्वत: ज्ञान हो ही जायेगा । ऐसी स्थिति में न्याय-लक्षण के लक्ष्य प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों के समूह में पक्षसत्त्व आदि पञ्चरूपोपपन्न-लिङ्गप्रतिपादकवाक्यत्व इस न्याय-लक्षण के समन्वय होने से यह न्याय का लक्षण निर्दुष्ट है ऐसा प्रतीत होता है ।

यदि हम इस न्याय-लक्षण की सूक्ष्मता से आलोचना करते हैं तो उपर्युक्त न्याय-लक्षण की उदाहरण, उपनय तथा निगमन वाक्य के समूह में अतिव्याप्ति है यह ज्ञात होता है । समस्तरूपोपपन्न लिङ्गप्रतिपादक वाक्य को न्याय मान लेने पर, उपर्युक्त तीन वाक्यों के समूह में पक्ष-सत्त्व, सपक्ष-सत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितत्व एवं असत्प्रतिपक्षितत्व रूप पाँच धर्मों से विशिष्ट हेतु है, यह ज्ञान उत्पन्न करने की क्षमता होने से अतिव्याप्ति अपरिहार्य है ।

इसी प्रकार "समस्तरूपोपपन्नं लिङ्गम्" यह वाक्य भी, लिङ्ग अथवा हेतु समस्त रूपों से विशिष्ट है, इस प्रकार का शाब्द-बोध कराता है । इसी लिये "समस्तरूपोपपन्न लिङ्गप्रतिपादक वाक्यत्व" रूप न्याय-लक्षण के उपर्युक्त वाक्य में समन्वित होने से, इस वाक्य में भी न्याय-लक्षण की अतिव्याप्ति है । इन दोनों अतिव्याप्तिओं के कारण "समस्तरूपोपपन्न लिङ्गप्रतिपादकवाक्यत्व" न्याय का लक्षण नहीं माना जा सकता है ।

उदाहरणादि त्रिक में तथा समस्तरूपोपपन्नं लिङ्गम् इस वाक्य में हुई अतिव्याप्ति का वारण, "अनुमिति-चरमकारणलिङ्ग" परामर्श प्रयोजन शाब्दज्ञानजनकत्व" को न्याय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का लक्षण मान लेने से अनायास ही हो जाता है। अनुमिति का ऐसा कारण जिसके बाद अनुमिति तत्काल हो जाती हो, अनुमिति का चरम कारण या अन्तिम कारण कहा जायेगा। पक्ष में व्याप्ति से विशिष्ट लिङ्ग का जो परामर्श या ज्ञान होता है, वह लिङ्ग-परामर्श ही अनुमिति का चरम कारण है। यह लिङ्ग-परामर्श प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन इन पाँच वाक्यों के सुनने के बाद उत्पन्न शाब्दबोध से होता है। इस शाब्द-बोध के जनक वाक्य-समूह को ही न्यायदर्शन में न्याय कहते हैं।

उदाहरण, उपनय एवं निगमन इन तीन वाक्यों के समूह में "अनुमिति चरमकारणलिङ्ग परामर्शप्रयोजक-प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थ विषयक महावाक्यार्थबोध, अथवा प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थविषयक समूहालम्बनात्मक बोध रूप शाब्दबोधजनकवाक्यत्व" के न होने से अतिव्याप्ति की आपत्ति स्वतः निरस्त हो जाती है।

इस न्याय-लक्षण में "अनुमिति चरमकारणलिङ्गपरामर्श प्रयोजक" इतना भाग प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थविषयक महावाक्यार्थबोध का अथवा प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थ-विषयक समूहालम्बनात्मक बोध का परिचायक मात्र है। फलतः 'प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थ विषयक शाब्दबोध के जनक वाक्य' को ही हमें न्याय स्वीकार करना चाहिए यह स्पष्ट होता है। यदि केवल शाब्दबोध के जनक वाक्य को ही न्याय कहेंगे तो 'घटमानय' (घड़ा लाओ) इत्यादि वाक्यों में न्याय-लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्यों कि ऐसे वाक्य भी शाब्दबोध के जनक होते हैं। इस अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिये न्यायलक्षण के घटक शाब्दबोध में 'प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थ विषयकत्व' का निवेश करना पड़ता है।

अनुमितिचरमकारणलिङ्गपरामर्शप्रयोजकत्वरूप से यदि शाब्दबोध को न्याय-लक्षण का घटक माना जायेगा तो जहाँ पर 'धूमवान् पर्वतः' इस वाक्य से होने वाला ज्ञान ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से मानस-परामर्श का प्रयोजक होता है, वहाँ अनुमितिचरमकारणलिङ्गपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकत्व 'धूमवान् पर्वतः' इस वाक्य में भी होने के कारण न्याय-लक्षण की अतिव्याप्ति है। 'प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थ-विषयकत्वरूप से ही शाब्दबोध को न्यायलक्षण का घटक मानने पर 'धूमवान् पर्वतः' इस वाक्य में मात्र धूमवत् पर्वतविषयकबोधजनकत्व के होने से, प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थ-विषयकबोधजनकत्व के न होने के कारण न्याय-लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण सुगम हो जाता है। इस प्रकार 'प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थविषयक शाब्दबोधजनकत्व' यह न्याय का लक्षण दोष रहित प्रतीत होता है। पुनः, सूक्ष्मता से विचार करने पर यह लक्षण भी असम्भव-दोष से ग्रस्त सिद्ध होता है। प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थ-विषयकसमूहालम्बनात्मकशाब्दबोध अथवा महावाक्यार्थबोध का जनक प्रतिज्ञा आदि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाक्यों का ज्ञान ही होता है । इस प्रकार न्याय-लक्षण के लक्ष्य प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों के समूह में उपर्युक्त न्याय-लक्षण का समन्वय न हो पाने के कारण असम्भव अपरिहार्य है । इस असम्भव-दोष का निरास करने के लिये यदि प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थविषयकशाब्दज्ञानजनक प्रतिज्ञादिवाक्यज्ञानविषयत्व' यह न्याय का लक्षण स्वीकार करेंगे तो भी न्याय के एक देश प्रतिज्ञा आदि में न्याय-लक्षण के समन्वित होने से अतिव्याप्ति का निरास तो नहीं ही हो सकेगा । इस अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिये परिष्कृत न्याय-लक्षण, 'तादृश यत्किञ्चिच्छाब्दबोध प्रति यादृश-यादृश धर्मप्रकारत्वेन शब्दज्ञानस्य कारणता प्रत्येकं तत्तद्धर्मावच्छिन्न वाक्यसमुदायत्व' है यह स्वीकार कर लेते हैं ।

लक्षण-घटक "तादृश यत्किञ्चित् शाब्दबोध" शब्द का अर्थ प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थविषयकशाब्दबोध है । यह शाब्दबोध प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों के ज्ञान से ही सम्भव है । प्रायः प्रत्येक ज्ञान में कोई पदार्थ विशेषण होता है, तो कोई पदार्थ विशेष्य होता है । पद-समूह को वाक्य कहते हैं, तथा वाक्य[१७] शब्द से अलग नहीं होता है, यह तथ्य सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं । उपर्युक्त लक्षण में शब्दज्ञान का तात्पर्य प्रतिज्ञा आदि वाक्यों के ज्ञान में ही है । 'पर्वतः वह्निमान्' (पर्वत आग वाला है) इस वाक्य को जब हम सुनते हैं तब श्रवणेन्द्रिय से हमें इस वाक्य का ज्ञान होता है । इस ज्ञान में विशेषण या प्रकार वाक्य में रहने वाली आनुपूर्वी होती है । 'पर्वतो वह्निमान्' इस वाक्य में विद्यमान आनुपूर्वी का स्वरूप न्याय-दर्शन में 'प् तदुत्तर अ तदुत्तर र् तदुत्तर व् तदुत्तर अ तदुत्तर त् तदुत्तर ओ तदुत्तर व् तदुत्तर अ तदुत्तर ह् तदुत्तर न् तदुत्तर इ तदुत्तर म् तदुत्तर आ तदुत्तरनत्व' माना गया है । इसी आनुपूर्वी को संक्षेप में हम प विशिष्ट नत्व भी कह सकते हैं । इस प्रकार 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रतिज्ञा वाक्य का ज्ञान, प विशिष्ट नत्व प्रकारक 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक वाक्य-विशेष्यक माना जायेगा। यह ज्ञान ऊपर चर्चित तादृश यत्किञ्चित् शाब्द-बोध का कारण होता है । ठीक इसी प्रकार हेतु-वाक्य, उदाहरण-वाक्य, उपनय-वाक्य, एवं निगमन-वाक्य का ज्ञान भी इस शाब्दबोध में कारण सिद्ध होता है । इन वाक्यों में रहने वाली कारणता का अवच्छेदक धर्म प् विशिष्ट नत्व, घ् विशिष्ट तत्व होता है। । इन सभी धर्मों से विशिष्ट अर्थात् अवच्छिन्न वाक्य, प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों का समुदाय होता है, तथा इस वाक्य-समुदाय में रहने वाला समुदायत्व ही न्याय का लक्षण है यह तथ्य सुस्पष्ट है ।

इस न्याय-लक्षण का और अधिक परिष्कृत एवं निर्दुष्ट स्वरूप, "तादृश यत्किञ्चिच्छाब्दबोधनिरूपिता[१८] शब्दज्ञाननिष्ठा या या कारणता प्रत्येकं तत्तदवच्छेदककोटि-प्रविष्ट-यत्किञ्चिज्ज्ञानीयविषयताश्रयवर्णत्वव्यापक-समुदायत्व" है यह स्वीकार करना पड़ता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है । न्याय के पूर्वोक्त लक्षण को स्वीकार करने पर पर्वतो वह्निमान्' इस वाक्य-ज्ञान को प्रतिज्ञा आदि समस्त अवयवार्थविषयक-समूहालम्बनात्मक-बोध अथवा महावाक्यार्थ-बोध का कारण मानने से इस कारणता की अवच्छेदक, अव्यवहितोत्तरता सम्बन्ध से प विशिष्ट नत्व रूप आनुपूर्वी के अन्तिम वर्ण न में ही रहने के फलस्वरूप प विशिष्ट नत्व आदि पाँच धर्मों से अवच्छिन्न समुदायत्व प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों के अन्तिम पाँच वर्णों के समुदाय में अक्षत होने से अन्तिम पाँच वर्णों के समूह में अतिव्याप्ति-दोष अपरिहार्य हो जाता है । यह दोष उपर्युक्त परिष्कृत-लक्षण स्वीकार करने से स्वतः निरस्त हो जाता है । इस न्याय-लक्षण की उपादेयता पूर्व-लक्षण की अपेक्षा लघु अर्थात् छोटी होने के कारण भी सिद्ध है ।

'पर्वतो वह्निमान्' इस वाक्य को सुनने के बाद पर्वत वह्नि से युक्त है यह शाब्दबोध होता है । यही शाब्द-बोध 'पर्वतो दहनवान्' 'पर्वतोऽग्निमान्' इस प्रकार के विभिन्न आनुपूर्वी विशिष्ट वाक्यों के ज्ञान से भी होता है । शाब्दबोध में विशेषण 'यत्किञ्चित्व' को यदि उपर्युक्त न्याय के लक्षण से हटा दें तो 'पर्वतो वह्निमान्' 'धूमात्' 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यथा महानसम्' 'तथा चायम्' 'तस्मात्तथा' इन पाँच वाक्यों के समूह में, जो कि न्याय-लक्षण का लक्ष्य है, अव्याप्ति होने लगेगी ।

प्रतिज्ञा आदि सकलावयवार्थविषयक समूहालम्बनात्मक-बोध अथवा महावाक्यार्थबोध, जैसे ऊपर निर्दिष्ट पाँच वाक्यों के समूह से होता है, वैसे ही 'पर्वतो दहनवान्' 'धूमात्' 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यथा महानसम्' 'तथा चायम्' 'तस्मात्तथा' इन पाँच वाक्यों के समूह से भी सम्पन्न होता है । इस दूसरे वाक्य-समूह से होने वाले महावाक्यार्थबोध या समूहालम्बनात्मक बोध का यदि हम न्याय-लक्षण के शाब्दबोध पद से ग्रहण करेंगे तो इस प्रकार के शाब्द-बोध से निरूपित प्रत्येक वाक्य-ज्ञानात्मक शब्द-ज्ञान-निष्ठ जो जो कारणता, प्रत्येक कारणता की अवच्छेदक कोटि में प्रविष्ट यत्किञ्चित् ज्ञान की विषयता का आश्रय जो वर्णत्व उसके व्यापक समुदायत्व के प्रथम पाँच वाक्यों के समुदाय में न होने से अतिव्याप्ति होती है यह अत्यन्त स्पष्ट ही है ।

न्याय-लक्षण घटक शाब्दबोध में यत्किञ्चित्व का निवेश कर देने से प्रथम पाँच वाक्यों के समूह से होने वाले समूहालम्बनात्मक अथवा महावाक्यार्थ-बोध का ही यत्किञ्चित् शाब्द-बोध पद से ग्रहण किया जाता है । इस शाब्दबोध से निरूपित शब्द-ज्ञान वृत्ति जो जो कारणता उस प्रत्येक कारणता की अवच्छेदक कोटि में प्रविष्ट यत्किञ्चित् ज्ञान की विषयता का आश्रय जो वर्णत्व उसके व्यापक समुदायत्व

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के प्रथम पाँच वाक्यों के समुदाय में अक्षुण्ण होने से न्याय के इस परिष्कृत-लक्षण की अव्याप्ति अनायास ही निरस्त हो जाती है ।

"तादृश यत्किञ्चिच्छाब्दबोधनिरूपिता शब्द-ज्ञाननिष्ठा या या कारणता प्रत्येकं तत्तदवच्छेदककोटिप्रविष्ट यत्किञ्चिज्ज्ञानीयविषयताश्रयवर्णत्वव्यापकसमुदायत्व" रूप में परिष्कृत इस न्याय-लक्षण में यत्किञ्चिज्ज्ञानीय विषयता का निवेश, अर्थात् ज्ञान में यत्किञ्चित्व का निवेश यदि हम नहीं करेंगे तो 'पर्वतो वह्निमान्' 'धूमात्' 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, 'यथा महानसम्' 'तथा चायम्' 'तस्मात्तथा' इस प्रकार के एक-एक वाक्य वाले पाँच वाक्यों के समुदाय में रहने वाले समुदायत्व को तादृश यत्किञ्चित् शाब्दबोधनिरूपित शब्दज्ञानष्ठिा या या कारणता प्रत्येकं तत्तदवच्छेदककोटि प्रविष्ट ज्ञानीय विषयताश्रय वर्णत्व का व्यापक नहीं सिद्ध कर सकते हैं । प्रस्तुत समुदायत्व मात्र एक-एक वाक्य से घटित पाँच वाक्यों के समुदाय में ही रहेगा। परन्तु जहाँ एक ही आनुपूर्वी वाले प्रतिज्ञा-वाक्य– पर्वतो वह्निमान्, का दो या तीन बार ज्ञान हुआ वहाँ इन वाक्य-ज्ञानों में प्रतिज्ञा आदि समस्त अवयवार्थ विषयक समूहालम्बनात्मक या महावाक्यार्थ-बोध की कारणता है । इन कारणताओं की अवच्छेदक, अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से प विशिष्ट नत्व रूप आनुपूर्वी से विशिष्ट वर्ण-विषयताएँ ही होंगी । इन विषयताओं का सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से आश्रय 'प' आदि वर्णों में रहने वाले वर्णत्व होंगे । ये प आदि वर्णत्व उस 'पर्वतो वह्निमान्' वाक्य में भी हैं जहाँ उपर्युक्त एक-एक वाक्य से घटित पाँच वाक्यों का समुदायत्व नहीं है । इस तरह उपर्युक्त कारणता की अवच्छेदक विषयता के आश्रय वर्णत्व का व्यापक समुदायत्व के न होने से न्याय-लक्षण की पुनः अव्याप्ति प्रसक्त होती है। लक्षण में 'यत्किञ्चिज्ज्ञानीयविषयता' का प्रवेश कर देने से, 'पर्वतो वह्निमान्' इस वाक्य के कई ज्ञानों में से हम उसी ज्ञान को ग्रहण करने के लिये स्वतन्त्र हो जाते हैं, जिस वाक्य में उपर्युक्त समुदायत्व है । फलतः, यत्किञ्चित् 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक वाक्य-ज्ञान की विषयता को उपर्युक्त कारणता के अवच्छेदक-रूप में मान लेने से विषयता के आश्रय वर्णत्व का व्यापकत्व समुदायत्व में निराबाध सिद्‌ध हो जाता है । इस प्रकार अव्याप्ति का निवारण हो जाने के कारण यह न्याय का लक्षण युक्ति-युक्त प्रतीत होता है ।

पीयूषकान्त दीक्षित

नव्य-न्याय विभाग
श्री लालबहादुर शास्त्री
राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
नई दिल्ली–११००१६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. तिस्रः कथा भवन्ति, वादो जल्पो वितण्डा चेति ।

वा. भाष्य, अ.१ आ.२ सू.४२

२. तत्र वादं लक्षयति । अत्र च वाद इति लक्ष्य-निर्देशः, पक्षप्रतिपक्षौ विप्रतिपत्तिकोटी, तयोः परिग्रहः, तत्साधनोद्देश्यकोक्तिप्रत्युक्तिरूपवचनसन्दर्भः ।

वा.भाष्य. वि. वृत्ति, अ.१ आ.२ सू.४२

३. तथा चोक्तम्– "तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहरक्षणार्थं कण्टकशाखाऽऽवरणवत्"।

वा.भाष्य, अ.१ आ.२, सू.४३

४. स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा न्या.सू. ४४

५. "तथापि यदेतद् वेदप्रामाण्यमात्मादिप्रतिपादनंच निश्रेयसोपयोगि, न तत् पञ्चावयववाक्यादेतच्छास्त्रोपदिष्टोपकरणाद् विना सिद्ध्यतीत्यनेनाभिप्रायेण द्रष्टव्यम् ।"

न्या.वा.ता.टी. पृ.६१

६. सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं विगमनमिति ।

न्या. भाष्य, अ.१, आ.१, सू.३९

७. प्रत्यक्षादिप्रमाणमूलाः प्रतिज्ञादयः पञ्चावयवाः प्रमाणानि ।

न्या.वा.ता.टी. पृ.४९

८. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः । न्या. भाष्य, अ.१, आ.१, सू.१

९. सोऽयं परमो न्यायः । न्या. भाष्य, वही

१०. कः पुनः परमशब्दार्थं इति । उत्तरम्–विप्रतिपन्नपुरुषप्रतिपादकत्वं पञ्चावयववाक्यस्य परमत्वमिति।

न्या.वा.ता.टी. पृ.६१

११. अवयवा इवावयवाः, न पुनः समवायिकारणम्, यथा ह्यवयवा; समुदायिन एकस्मिन्नवयविति कार्ये धारयितव्ये च एवमेकस्मिन् विवक्षितार्थप्रतिपादने प्रतिज्ञादयोऽवयवा वाक्यस्य समुदायस्य समुदायिन इति । न्या.वा.ता.टी. पृ.६१

१२. तच्चानुमानं परार्थं न्यायसाध्यम् । अनु. खण्ड पृ.१४६०

१३. अत्र स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वं प्रसङ्ग इति प्रसङ्गलक्षणम् ।तत्र स्मृतस्य पूर्वाभिहितवस्तुसम्बन्धेन स्मृतस्य उपेक्षानर्हत्वं द्वेष्यज्ञानविषयताविरोधिरूपं जिज्ञासा-विषयतावच्छेदकरूपमिति यावत् ।

गादाधरी, अनुमि. प्रक., पृ.१०

१४. तत्र न समस्तरूपोपपन्नलिङ्गप्रतिपादकवाक्यं न्यायः ।

तत्त्वचिन्तामणिः, अनु.खं. पृ.१४६०

१५. चतुर्भिः खल्ववयवैर्हेतोस्त्रीणि रूपाणि द्वेवा प्रतिपादिते न त्वबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षितत्वे । पञ्चसु वा चतुर्षु रूपेषु हेतोरविनाभावः परिसमाप्यते । तस्मादबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षितत्वरूपद्वयसंसूचनाय निगमनम् । न्या.वा.ता.टी., अ.१, आ.१, सू.३९ पृ.५६८

१६. अनुमानचिन्तामणि

१७. पूर्वपदस्मृत्यपेक्षोऽन्त्यपदप्रत्ययः स्मृत्यनुग्रहेण प्रतिसन्धीयमानो विशेषप्रतिपत्तिहेतुर्वाक्यम् ।

न्या.वा.ता.टी., पृ.५७

१८. अनुमानगादाधरी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारत में राष्ट्र का अन्वेषण

•

भारत में सम्प्रति राष्ट्रीय अस्मिता, राष्ट्रीय तादात्म्य के निकप और एतद् सम्बन्धी प्रचलित मान्यताओं की पुनर्व्याख्या के लिए प्रेरक परिस्थितियाँ प्रकट हो रही हैं। कुछ लोग भारत को हिन्दूराष्ट्र तो कुछ लोग इसे संकर संस्कृति पर निर्मित नवराष्ट्र मानते हैं। राष्ट्र के स्वरूप सम्बन्धी यह मतभेद इतने उग्र रूप में प्रकट हो रहा है, कि पक्ष विपक्ष की प्रचार प्रक्रिया में मूल प्रश्न दृष्टि से ओझल जाता दिखाई देने लगा है। इसीलिए देश की वर्तमान उत्तेजना पूर्ण अवस्था को "साम्प्रदायिक राजनीति" के कथित दुश्चक्र के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। हमने अपने पिछले लेख में यह विचार प्रस्तुत किया था कि वर्तमान दुरवस्था के लिए साम्प्रदायिकता को दोष देना सर्वथा अनुचित है।[1] सम्प्रदायिकता समाज के लिए स्वाभाविक और वांछनीय भी है। साथ ही हमने यह भी लिखा था कि वर्तमान संघर्ष राजनैतिक सम्प्रदायों के बीच है जिनका जन्म राष्ट्र सम्बन्धी मान्यताओं के मतभेद से होता है। वर्तमान भारतीय समाज के प्रस्तुत वैचारिक मंथन में अपने सहभाग के रूप में हमने भी राष्ट्र का अन्वेषण का प्रयास किया है। निष्कर्ष कितना संगत है– यह जानने के लिए विद्वानों के सम्मुख लेख के रूप में अपने विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

आधुनिक भारतीय विद्वानों में से प्राय: बहुसंख्य लोग, विशेष रूप से ऐसे लोग, जिनके विचार-प्रेरक-तत्त्व अग्रेंजी शिक्षा के परिणाम हैं, यह मानते हैं कि राष्ट्रवाद का भारत में उदय आधुनिक काल में हुआ। एक लेखक लिखते हैं "भारतीय राष्ट्रवाद अर्वाचीन तथ्य है। ब्रिटिश शासन और विश्व शक्तियों के कारण तथा भारतीय समाज में उत्पन्न और विकसित कारकों की क्रिया प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ब्रिटिशकाल में भारतीय राष्ट्रवाद का उदय हुआ"[2]।

राष्ट्र शब्द से जिस प्रकार के मानव समूह का बोध होता है उसके लक्षणों में ई.एच्.कार ने अतीत और वर्तमान (संभवत: भविष्य में भी) सर्वनिष्ठ सरकार, भूभाग, उक्त भूभाग में रहने वालों में सम्पर्क सामीप्य, ऐसी चरित्रगत विशेषताएँ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(प्रमुखत: भाषा) जो एक समुदाय को अन्य राष्ट्रों से अलग करती है समुदाय के सदस्यों के सम्मिलित स्वार्थ को माना है ।[३] एक राष्ट्र के लिए एक राज्य या सरकार को आवश्यक मानने के कारण ही संभवत: भारत को निर्माणाधीन राष्ट्र समझा जाता है ।

"रसेल के अनुसार राष्ट्र का निर्माण भावनात्मक एकता और एक प्रकार के समूह की समान प्रवृत्तियों से होता है । एक राष्ट्र के लोग समान उद्देश्यों की और समान भावनाओं द्वारा उत्प्रेरित होते हैं"[४] डॉ: आम्बेडकर भी राष्ट्र के भावनात्मक एकता-बद्ध समूह के रूप में मानते हैं । उनके अनुसार राष्ट्रीयता एकत्व की एक आत्मनिग्र मनोवैज्ञानिक भावना है ।[५] अर्नेस्ट रेनन् के अनुसार "राष्ट्र एक जीवित आत्मा है, एक आध्यात्मिक सिद्धान्त है । (१) स्मृतियों की समृद्ध विरासत की सामान्य उपलब्धि और (२) एक साथ रहने की वास्तविक स्वीकृति या इच्छा ये दो तथ्य इस आत्मा या आध्यात्मिक सिद्धान्त की संरचना करते हैं और वे व्यक्ति की तरह राष्ट्र के द्वारा एक दीर्घ अतीत में कृत प्रयास, त्याग और समर्पण का परिणाम हैं ।[६]

राष्ट्र के सम्वन्ध में विद्वानों, राजनेताओं तथा सामान्य जन की व्यक्त चिन्ताओं से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि राष्ट्र से आशय व्यक्तियों से सम्बद्ध ऐसे जनसमुदाय से है जिसके सदस्य निश्चित रूप के परस्पर भावनात्मक एकता संबंध से एक-दूसरे से संबंधित हैं । भावनात्मक एकात्मता से युक्त जनसमुदाय में अन्य बातें यथा भाषा, भू-भाग, सामाजिक संस्थाएँ भी अनिवार्यत: निहित मानी जा सकती हैं, क्योंकि इनके बिना "जनसमुदाय" की कल्पना नहीं की जा सकती । इसीलिए राष्ट्र के लक्षणों में भाषा, भूभाग, सर्वनिष्ठ सरकार आदि की एकता या समानता को भी सम्मिलित कर लिया जाता है । यहाँ तक तो राष्ट्र सम्वन्धी अवधारणा में आम सहमति प्रतीत होती है । मतभेद वहाँ हो जाते हैं जहाँ उपर्युक्त लक्षणों में से किसी को गौण और किसी को महत्त्वपूर्ण मान लिया जाता है । जनसमुदाय में भावनात्मक एकात्मता वर्तमानमूलक कम और अतीत मूलक अधिक होती है। वर्तमान मूलक से हमारा आशय यह है कि एकात्मता ऐसी हो जो उन कारकों से उत्पन्न हो जो वर्तमान हैं, जिनका वर्तमान कालिक महत्त्व है । वर्तमानमूलक कारक भविष्योन्मुख भी होते हैं । उदाहरण के लिए आजीविका की सुविधा । यह न केवल वर्तमान कालिक महत्त्वपूर्ण है, अपितु भविष्य के लिए भी एक महत्त्वपूर्ण कारक है । आजीविका की सुविधा के कारण व्यक्तियों में परस्पर सम्बन्ध होना भावनात्मक एकात्मता को उत्पन्न करता है । इस तरह की एकता, साधन रूप होने से, न्यून या शून्य हो जाती है । राष्ट्र के रूप में मान्य जनसमुदाय में एकात्मकता व्यक्तिगत लाभ हानि से परे होनी चाहिए । अतीतमूलकता से हमारा आशय यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है कि एकात्मता ऐसी हो जिसका उदय उन कारकों से हो जिनकी वर्तमान महत्ता न भी हो या हो भी, तो उसका स्पष्ट बोध न भी हो लेकिन जो सुदीर्घ अतीत की अधिकतम अवधि में महत्त्वपूर्ण रही हो, जिनकी स्मृतियाँ जनसमुदाय को सहानुभूति प्रदान करे। अतीत में समुदाय के द्वारा किया गया त्याग, उठाए गए कष्ट, दुर्दिन और सुदिन, देखे गए अधूरे स्वप्न वे कारक हैं जो वर्तमान में भावनात्मक एकात्मता उत्पन्न करते हैं। अर्नेस्ट रेनन का यह विचार सटीक है कि पीडा में सहभाग, प्रसन्नता में सहभाग की अपेक्षा एकता में बांधने के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है। सामूहिक शोक और दुःख, उल्लास के सामूहिक स्मृतियों से एकता में अधिक साधक हैं, क्योंकि ये सामूहिक कर्त्तव्य-बाध्यता का बोध उत्पन्न करते हैं।[७]

समस्या-रहित भविष्य की ओर उन्मुखता के कारण उत्पन्न होती है, जिसकी स्पष्टता और निश्चयात्मकता मात्र अपेक्षा, और कल्पना तक सीमित होती है। इसलिए भविष्य के लिए प्रयासों के लिए संकल्प की दृढता साधन-विकल्प और समस्याओं के आघात के अनुभूति की तीव्रता और गहनता पर निर्भर करती है। आघात के अनुभूति की तीव्रता और गहनता समस्याओं से 'वर्तमान संलग्नता' पर निर्भर करती है और वर्तमान संलग्नता अतीत की सहभागिता पर निर्भर करती है। किसी समुदाय की अतीत में सहभागिता की व्यापकता, गहनता और दीर्घकालिकता ही भविष्य के लिए सामूहिक प्रयासों की संकल्प-दृढता का प्रेरक है और जनसमुदाय के राष्ट्र होने के लिए या भावनात्मक एकात्मता के लिए केवल अतीत और वर्तमान सहानुभूति पर्याप्त नहीं, वरन् भविष्य के लिए सामूहिक संकल्प भी आवश्यक है। अर्थात् किसी समुदाय को "राष्ट्र" होने के लिए केवल अतीतमूलक ही नहीं भविष्यमूलक भावनात्मक एकात्मता भी आवश्यक है। भविष्यमूलक भावनात्मक एकात्मता से हमारा आशय ऐसी एकात्मता से है जो किसी जनसमुदाय में सुख, दुःख, उत्थान, पतन की समस्त भावी अवस्थाओं में भी एक बने रहने की स्वतःस्फूर्त इच्छा उत्पन्न करे। भावनात्मक एकात्मता के मूल सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन एक उदाहरण से स्पष्ट ग्राह्य हो सकता है। भारत की स्वतंत्रता के लिए कथित राष्ट्रीय आन्दोलन के समय तत्कालीन भारतीय जनसमुदाय में भावनात्मक एकात्मता थी जिसकी अभिव्यक्ति ब्रिटिश शासन के विरोध के रूप में हुई। ब्रिटिश शासन का विरोध तीन वर्ग के लोगों ने किया। एक वर्ग विदेशी शासन से भारत की मुक्ति चाहता था। यह वर्ग स्वयं को विदेशियों से संघर्ष की उस धारा का अंग स्वीकार करता था जिसमें राणाप्रताप, शिवाजी आदि थे। दूसरा वर्ग विदेशीपन को महत्त्वपूर्ण न मानकर उसके अधीन स्वायत्तता चाहता था। यह न मिलने पर उपजे असंतोष ने उनमें विरोध को जन्म दिया। तीसरा वर्ग जो सबसे अन्त में सम्मिलित हुआ वह अपने अल्पसंख्यक सामुदायिक हितों की रक्षा और मज़हबी कारणों से विरोध के लिए प्रस्तुत हुआ।[८] इनके लिए ब्रिटिश का विदेशी होना, या सारे भारत की स्वायत्तता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

महत्त्वपूर्ण नहीं थी। ब्रिटिश शासन के इस विरोध में भावनात्मक एकात्मता तत्कालीन समस्याघातों का परिणाम थी और अतः वर्तमानमूलक थी। साथ ही उनकी समस्या के प्रति वर्तमान संलग्नता और आघात की अनुभूति में भी स्वरूपगत भेद था। इस एकात्म भावना में भविष्य-मूलकता भी समान रूप से नहीं थी जिसके कारण भारत का विभाजन हुआ। विभाजन को एकराष्ट्र भावना का परिणाम नहीं कहा जा सकता। अभिप्राय यह है कि भावनात्मक एकात्मता की वर्तमानमूलकता किसी समुदाय को एक राष्ट्र का रूप प्रदान नहीं करता। उसके प्रत्येक सदस्यों में भविष्य में भी एक बने रहने की दृढ़ इच्छा भी अनिवार्य है।

विषमता, अनेकता और विविधता तथा समता, एकता और सामञ्जस्य सृष्टि में निहित और मानव द्वारा अनुभूत सत्य है। सिद्धान्ती अद्वैतवादी (जडवादी या चेतनवादी), हो या न्यूनतम द्वैतवादी हो, यदि सृष्टि है तो अनेकता, एकता आदि रूप के विरोधी तथ्यों के अस्तित्व को वह अस्वीकार नहीं कर सकता। यह तथ्य अपनी सत्यता के लिए हमारी इच्छा, अनिच्छा की अपेक्षा नहीं रखता। मानव भी "एकजाति" होते हुए भी इन विरोधरूप तथ्यों से अलिप्त, रहित या अलग नहीं है। एक व्यक्ति में परस्पर विरोधी तथ्य किसी एक बिन्दु पर सन्तुलित हो जाते हैं। और उस सन्तुलित बिन्दु के अधिष्ठातृत्व में व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित होता है। उस एक बिन्दु को हम सुविधा के लिए, चाहें तो, व्यक्ति की जीवन के प्रति परमार्थ दृष्टि, परमलक्ष्य का स्वीकृत रूप कह सकते हैं। इसी तरह मानव व्यक्तियों का समुदाय भी व्यक्तियों की समस्त भिन्नता, विषमता और विरोधों के बीच किसी एक केन्द्रीय तथ्य जीवन की "परमार्थ दृष्टि" पर सन्तुलन स्थापित करता है। वह दृष्टि उसकी ऐसी अपनी विशिष्टता होती है जिस के आधार पर वह समुदाय न केवल स्वयं को एक समुदाय, एक समाज के रूप में पहचानता है, अपितु इसी आधार पर अन्य समुदायों या समाजों से वह स्वयं की भिन्न अस्मिता भी स्थापित करता है। समस्त विरोधों और विषमताओं में सन्तुलन की केन्द्रीय दृष्टि ही संस्कृति है जो किसी समाज की आत्मा कही जा सकती है। एक जन समूह या भीड़ "समाज" के रूप में इस केन्द्रीय दृष्टि के बिना संरचित नहीं होता। श्री शल्य के अनुसार समाज का अस्तित्व किसी संस्कृति के बिना अक्षुण्ण रहना असंभव होता है। सांस्कृतिक क्षय किसी समाज के अस्तित्व को खतरे में डाल सकता है।[1] हमारे विचार में व्यक्ति की परमार्थ दृष्टि ही समाज की संरचना का आधार अतः संस्कृति है। वह केन्द्रीय बिन्दु या विशिष्टता या संस्कृति उस समुदाय के घटकों के बीच भावनात्मक एकता का आधार बनती है और यही वास्तव में राष्ट्र का आधार होता है। यह विशिष्टता न केवल एक समाज की एक राष्ट्र के रूप में पहचान कराती है अपितु अन्य राष्ट्रों से पृथकता का भी बोध कराती है। स्वअस्तित्व के बोध की गहनता, व्यापकता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और तीव्रता का पृथकृता के बोध की गहनता, व्यापकता और तीव्रता से सामानुपातिक सम्बन्ध होता है। अर्थात् स्व अस्तित्व का बोध जितना गहन होगा, पृथकृता का बोध भी उतना ही गहन होगा। अतः जब तक किसी जनसमुदाय में "अस्मिता बोध" होगा तब तक अन्य से पृथकृता का बोध भी होगा।[१०] एक व्यक्ति में अस्मिता तो सदा रहती है, लेकिन उसका बोध तब ही होता है जब उसकी चेतना का अन्य से सम्पर्क होता। "अन्य" से सम्पर्क का अर्थ है स्वयं से भिन्न और पृथक् कोई विषय प्रस्तुत हो। इसी तरह एक जनसमुदाय की अस्मिता का बोध तब ही होता है जब उससे भिन्न और पृथक् जनसमुदाय से उसका सम्पर्क होता है। अतः किसी भी समाज की राष्ट्र के रूप में अभिव्यक्ति तब ही होती है, जब उस समाज के समक्ष भिन्नता और पृथकृता के तथ्य प्रस्तुत होते हैं। अर्थात्, किसी समाज का राष्ट्र-बोध अन्य राष्ट्रों की उपस्थिति के बोध पर निर्भर करता है। इस प्रकार किसी समाज के राष्ट्र होने और उस समाज को राष्ट्र होने का बोध होने का बोध होने में अंतर होता है। यह संभव है कि किसी समाज में "राष्ट्र" कहलाने के लिए आवश्यक एकात्मता हो, लेकिन उसे एकात्मता के कारकों का, और एकात्मता का बोध न हो। यह भी संभव है कि एकात्मता का बोध हो, लेकिन उसकी युक्तिसंगत व्याख्या प्रस्तुत करने उसके सदस्य समर्थन हों या उसकी उन्हें आवश्यकता अनुभूत न हुई हो। इन सभी स्थितियों में राष्ट्र तो रहता है, लेकिन राष्ट्रवाद नहीं होता। राष्ट्रवाद का उदय तब होता है जब उस राष्ट्र के सदस्यों में असुरक्षा का भय या स्वयं का अन्य में विलय हो जाने की आशंका दिखाई पड़ने लगती है।

राष्ट्र एक समाज है और उसका जन्म जिस किसी देश में होता है उस देश की प्राकृतिक विशेषताओं का प्रभाव उस समाज पर पड़ता है। अतः राष्ट्र का एक आधार-भूत अंग वह देश होता है जिसमें कोई समाज या राष्ट्र फलता फूलता है। समस्त प्राकृतिक विपदाओं तथा सम्पदाओं के बीच दीर्घ अवधि तक एक देश में रहते हुए उस समाज में देश के प्रति भी पूज्यभाव उत्पन्न हो जाता है। और समाज के घटक रूप व्यक्तियों में निहित परस्पर भावनात्मक सम्बन्ध देश से भी प्रस्थापित हो जाता है। किसी देश के साथ आत्मीय सम्बन्धों की अभिव्यक्ति उसकी रक्षा के संकल्प में निहित होती है। सबसे स्थायी तत्त्व कि जिस पर एक राष्ट्र की शक्ति अवलम्बित रहती है, वह स्पष्ट रूप से उसकी भौगोलिक स्थिति है। इसलिए देश की रक्षा का संकल्प भी राष्ट्र का एक लक्षण होता है। किसी भी देश में रहने वाला जनसमुदाय अन्य देश के व्यक्तियों को अपने देश की सम्पदा का अपने समान उपभोग करने की स्वीकृति नहीं देता। सम्पर्क-साधन और आवागमन से देशीय निकटता स्थापित होती है। इससे दो देशों के जनसमुदायों में सम्बन्ध स्थापित होता है। सम्बन्ध स्थापना और अन्तःक्रिया की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अवधि में समाज के 'सामूहिक अहं'' यदि संरचना प्रक्रिया से गुजर रहे हों तो वे समाज एक दूसरे में विलीन होकर 'एक समाज' बन जाते हैं। सामूहिक अहं के निर्माण के उपरान्त दो समाजों का परस्पर विलयन अत्यन्त कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में एक देश में दो समाज सह अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि किसी भी देश में एक से अधिक समाज या राष्ट्र रह सकते हैं। सह अस्तित्व की यह अवस्था तभी तक सन्तुलित रहती है जब तक एक समाज दूसरे समाज को अपने में समाहित करने का सचेत प्रयास न करे। इस तरह के प्रयासों से दूसरे समाज में अपने अस्तित्व की सुरक्षा के प्रति चिन्ता होती है। ऐसी चिन्ता 'एक राज्य' की आवश्यकता को पुष्ट करती है।

किसी समाज के एक समाज या राष्ट्र होने में सम्प्रेषण का अत्यधिक महत्त्व है। समान उद्देश्य, आवश्यकताएँ या देशीय निकटता होने पर भी सम्प्रेषण के सर्वनिष्ठ माध्यम के अभाव में एकात्मता होते हुए भी वह अनुभूत नहीं होती। मानव के लिए श्रेष्ठ सम्प्रेषण-माध्यम भाषा है। समान भाषा होने का अर्थ है संस्कृति में समानता। कोई संस्कृति कितनी "पुरातन", कितनी विकसित और कितनी स्पष्ट है, इसका भाषा की पुरातनता, विकसित रूप और स्पष्टता से ही पता चलता है। समान भाषा का न होना देशीय निकटता के बावजूद समाजों को एक होने के मार्ग को अवरुद्ध करता है।

किसी भी समाज के लिए 'एक राज्य' होना आवश्यक है। समाज में अन्तर्निहित विषमताओं, भिन्नताओं तथा विरोधी तत्त्वों में सामञ्जस्यपूर्ण व्यवस्था के लिए कुछ अधिकारों से युक्त उत्तरदायी सामाजिक संस्था 'राज्य' है। राज्य और व्यक्ति-समूहों के अधिकार और उत्तरदायित्व में विलोमानुपातिक सम्बन्ध होता है। जिस समाज में व्यक्तियों में उत्तरदायित्व और अधिकार के प्रति सजगता जितनी मात्रा में अधिक होती है उतनी ही मात्रा में राज्य के अधिकार और उत्तरदायित्व कम होते हैं। इसी तरह राज्य के अधिकारों और उत्तरदायित्व में वृद्धि व्यक्तियों के अधिकार और उत्तरदायित्व को कम करती है।

समाज या राष्ट्र का निर्माण करना राज्य का क्षेत्राधिकार नहीं होता। समाज अपनी रक्षा और विकास के लिए सहायक के रूप में राज्य को स्वीकार करता है। अतः समाज के स्वरूप पर राज्य का स्वरूप निर्भर करता है। इस तरह राज्य राष्ट्र का ही एक अंग होता है। राज्य यदि समाज के निर्माण का, उसके स्वरूप के निर्धारण का कार्य करने लगे तो समाज राज्य से विद्रोह कर देता है। हम जानते हैं कि ब्रिटिश राज्य ने हिन्दू समाज के स्वरूप को निर्धारित करने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का प्रयास किया। ब्रिटिश राज्य की प्रेरणा से विद्वानों ने भारतीय समाज को 'एक समाज' के बजाय अनेक समाजों के मिश्रण के रूप में प्रचारित किया गया। हिन्दू समाज को विदेशी, आर्य, द्रविड़ आदि के रूप में अलग अलग बांटने से हिन्दू समाज को एक समाज के रूप में संगठित करने वाले भावनात्मक एकात्मता के आधार-भूत तत्वों की विकृत व्याख्या करके समाज को कमजोर करने का प्रयास किया, जिसके परिणाम स्वरूप हिन्दू समाज ने विद्रोह किया।

एक देश में रहने वाले एक समाज के लिए एक राज्य का होना समाज के लिए ग्राह्य होता है। एक देश में एक से अधिक समाज होने पर "राज्य" भी तदनुसार ही होंगे, यह स्वाभाविक स्थिति है। एक से अधिक समाजों या राष्ट्रों के लिए एक राज्य केवल अस्वाभाविक और बलात् आरोपित स्थिति होगी। ऐसी स्थिति में या तो राज्य व्यवस्था चलाने में अक्षम हो जाता है, या फिर वे समाज देशीय निकटता को अस्वीकार करके पृथक् देश और पृथक् राज्य के लिए प्रयास करने लगते हैं। भारत, सोवियत संघ और पाकिस्तान के विभाजन इसके उदाहरण हैं। दूसरी ओर यदि एक देश के एक समाज या राष्ट्र में एक से अधिक राज्य निर्मित हों तो यह अस्वाभाविक होने से अस्थायी व्यवस्था होगी। और जब भी समाज में अस्मिता का बोध होगा, राज्य एक हो जायेंगे। कोरिया, जर्मनी इसके उदाहरण हैं (जर्मनी का एकीकरण तो हो चुका है, कोरिया का वर्तमान विभाजन भी अस्थायी ही है)।

संक्षेप में, किसी समाज को राष्ट्र कहलाने के लिए उस समाज के घटकों या सदस्यों में अतीतमूलक, भविष्योन्मुख, भावनात्मक एकात्मता यह अनिवार्य शर्त है। राष्ट्र जिस देश में निवास करता है वह उस राष्ट्र की एक शक्तिरूप तत्त्व है। राष्ट्र की देश से भी भावनात्मक एकात्मता होनी चाहिए। राज्य राष्ट्र की रक्षा के लिए होता है। राष्ट्र की रक्षा का अर्थ उस राष्ट्र के निर्माण में आधारभूत मूल्यों की रक्षा है। किसी राष्ट्र का विकास तभी संभव है जब देश की रक्षा हो। अतः राज्य के दायित्व में देश की रक्षा सम्मिलित है।

भारत में राष्ट्र के अन्वेषण का अर्थ है भारत में रहने वाले समाज का अन्वेषण। भारत में राष्ट्र का स्वरूप क्या है ? क्या वर्तमान भारत में 'एक समाज' है ? अर्थात्, भारत में रहने वाले व्यक्तियों में अतीत मूलक, भविष्यगामी, भावनात्मक एकात्मता का कोई सर्वमान्य आधार है ? वह आधार क्या है ? आदि प्रश्नों के उत्तर खोजना भी भारत में राष्ट्र के अन्वेषण का रूप है।

सम्प्रति भारत में दो प्रकार का राष्ट्रवाद प्रचलित है, अर्थात् भारत में राष्ट्र का स्वरूप दो दृष्टिकोणों से समझने का तरीका अपनाया गया है। एक है हिन्दूराष्ट्रवाद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और दूसरा है सेक्यूलर राष्ट्रवाद । राष्ट्रवाद की एक विशेष प्रकार की धारणा रखने वाले स्वयं को सेक्यूलर घोषित करते हैं और हिन्दूराष्ट्रवाद को साम्प्रदायिक या कम्युनल या थियोक्रेटिक घोषित करते हैं । सेक्यूलर राष्ट्रवाद को कांग्रेसी राष्ट्रवाद कहना अधिक उचित है । इस कांग्रेस नाम का एक राजनीतिक सम्प्रदाय अस्तित्व में होने से, सेक्यूलर राष्ट्रवाद शब्द का उपयोग करना उचित प्रतीत होता है । हिन्दूराष्ट्रवादी भी स्वयं को वास्तविक सेक्यूलर घोषित करते हैं । भारत में सेक्युलरिज्म एक आयातित शब्द है। भारत में यह शब्द सर्वधर्म (पंथ) समभाव, सभी धर्मों के प्रति आदर भाव, सहिष्णुता आदि अर्थों में प्रचलित है । इस अर्थ में हिन्दू राष्ट्रवादियों के दावे को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता । वास्तव में कौन सेक्यूलर है इसका निर्णय पाठकों पर छोड़ते हुए, दोनों मतों की घोषणा को स्वीकार करते हुए सुविधा की दृष्टि से 'हिन्दूराष्ट्रवाद' और सेक्यूलर राष्ट्रवाद शब्दों का प्रयोग इस लेख में किया जा रहा है । सेक्यूलर राष्ट्रवाद बहु प्रचरित है । भारत के समचार पत्र, पत्रिकाओं में इस मत का निरन्तर प्रचार होता रहा है । अत: यहाँ इसके बारे में विस्तृत परिचय न दे कर इसकी प्रमुख मान्यताओं का उल्लेख करके उसकी विवेचना की जायेगी ।

सेक्यूलर राष्ट्रवाद का जन्म ब्रिटिश राज्य में भारतीयों की स्वायत्तता के संघर्ष की अवधि में हुआ । अत: इसके आधार के रूप में राजनैतिक एकात्मता को ही स्वीकार किया गया । हमारे विचार में सेक्यूलर राष्ट्रवाद के जनक श्री मोहनदास करमचन्द गांधी थे । उनका मत था कि हमारी राष्ट्रीयता की वास्तविक कसौटी हमारी सर्वनिष्ठ (Common) राजनैतिक अधीनता ही है ।'' इस निष्कर्ष के पीछे संभवत: यह मान्यता थी कि भारत एक देश के रूप में कई पृथक् व स्वतंत्र समुदायों का अधिष्ठान है । मज़हब को राष्ट्रीयता का आधार मानें तो भारत में अनेक मज़हब हैं । अत: इस दृष्टि से भारत एक राष्ट्र नहीं कहा जा सकता । संस्कृति को आधार मानें तो भारत में अनेक संस्कृतियाँ विद्यमान हैं । भाषा और जाति भी अनेक होने से एकात्मता के आधार के रूप में इन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता । अत: एक देश में रहने वाले समस्त पृथक् व स्वतंत्र सामुदायिक इकाइयों में 'एक राज्य' की अधीनता ही एकात्मता का आधार बन सकती है। वह राज्य ऐसा हो जिसके लिए विभिन्न भाषा, जाति, पंथ आदि समान हो । यही सेक्यूलर राज्य की स्वीकृति का आधार रहा और इसी आधार पर भारत 'एक राष्ट्र' के रूप में स्वीकृत हुआ । सेक्यूलर राष्ट्रवादियों के अनुसार भारत में सदियों से हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी तथा अन्य आस्थाओं के लोग साथ साथ सामञ्जस्य के साथ रहते आए हैं ।'' यही भारतीय समाज की गौरवशाली परम्परा है । गौरवशाली परम्परा का यह रूप इतिहास के नेहरूवादी दृष्टिकोण का परिणाम है । जवाहर लाल नेहरू लिखते हैं कि भारतीय इतिहास का काल-विभाजन प्राचीन या हिन्दू, मुस्लिम और ब्रिटिश काल के रूप में करना न केवल अबुद्ध है वरन्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गलत भी है। आक्रमणकारी जो उत्तर पश्चिम दिशा से भारत आए वे अपने कई पूर्ववर्ती और प्राचीन (आगन्तुकों) की तरह आए और भारत में समाहित हो गए। भारत एक स्वतंत्र देश बना रहा।[१३] मुगलों के भारत में सत्ता स्थापना से मिश्रित (या संकर-लेखक) संस्कृति का आविर्भाव हुआ।[१४] यह मिश्रित संस्कृति ही वास्तव में सेक्यूलर राष्ट्रवाद का आधार बना (यदि संस्कृति को राष्ट्र की आत्मा कहा जाये तो सेक्यूलर राष्ट्रवाद को संकर राष्ट्रवाद भी कहा जा सकता है)। राष्ट्रवाद में सेक्यूलर राष्ट्रवादी यह तो स्वीकार करते हैं कि इसमें अतीत की स्मृतियों, उपलब्धियों और अनुभवों का समूह अनिवार्य है।[१५] लेकिन वे एक ऐसे व्यापक राष्ट्रवाद में विश्वास करते हैं, जो मज़हब और जाति के भेदों से ऊपर है।[१६] राष्ट्रीय एकता परिषद् की १९६१ की घोषणा में इस राष्ट्रवाद के आधार को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया—"हमारे राष्ट्रीय जीवन की नींव सर्वनिष्ठ नागरिकता, अनेकता में एकता, मज़हब की स्वतंत्रता, पंथ निरपेक्षता, समता, न्याय और सभी समुदायों में बन्धुता पर खड़ी है।" भारतीय समाज के निर्माणाधीन राष्ट्रवाद के बारे में सेक्यूलर राष्ट्रवादियों का प्रामाणिक अभिलेख भारतीय संविधान है। संविधान की प्रस्तावना में भारत को एक 'सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न, *समाजवादी, पंथ निरपेक्ष*, लोकतंत्रात्मक गणराज्य' बनाने के लिए तथा 'उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता *और अखण्डता* सुनिश्चित कराने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए'[१७] दृढ़ संकल्प व्यक्त किया गया है। (रेखांकित शब्द सन १९७६ में जोड़े गये।) इसके अतिरिक्त मूलकर्त्तव्यों को सूची-बद्ध किया गया, जिसमें कहा गया है भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह "भारत के सभी लोगों में समकक्षता और समान बन्धुत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, (भारत सरकार के द्वारा प्रकाशित संविधान के हिन्दी अनुवाद में धर्मनिरपेक्षता के बजाय 'पंथनिरपेक्षता' शब्द को स्वीकार करने के बावजूद 'Religion' का अनुवाद धर्म किया जाना गंभीर संवैधानिक भूल है और अतः निराकरणीय है ऐसा हमारा मन्तव्य है) भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित भेदभाव से परे हो ....हमारी सामाजिक संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे।[१८] संविधान में यद्यपि राज्य और राष्ट्र के अन्तर को स्पष्ट नहीं किया गया, तथापि उद्धृत पंक्तियों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसमें समाजवादी, पंथ-निरपेक्ष राज्य-युक्त समाज के निर्माण का संकल्प व्यक्त किया गया है।

सेक्यूलर राष्ट्रवाद को समझने के लिए उसकी प्रमुख मान्यताओं का पर्याप्त ज्ञान उपर्युक्त विवरण से हो जाता है। तद्नुसार उसकी भारतीय समाज के वर्तमान और निर्माणाधीन स्वरूप सम्बन्धी मान्यताएं इस प्रकार हैं :—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१. भारत में प्राचीन काल से विदेशी लोग आकर बसते गए और उनकी भाषा, जाति पंथ और संस्कृति भिन्न होते हुए भी भारतीय के रूप में साथ साथ रहते आये हैं। यह भारत की गौरवशाली परम्परा है। यही 'एक राष्ट्र' के रूप में आदर्श स्थिति है।

२. भारत का निर्माणाधीन स्वरूप पंथ-निरपेक्ष है।

३. भारतीय समाज में व्यक्ति की गरिमा स्वीकृत है, तथा व्यक्ति को विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, पंथ और उपासना की स्वतंत्रता रहेगी।

४. भारत में राष्ट्र का आधार मिश्रित संस्कृति है और यह इस राष्ट्र का गौरव है।

५. राष्ट्र का अर्थ 'एक' राजनैतिक सत्ता के अधीन रहने वाला समाज है। इन्हीं मान्यताओं के आधार पर राष्ट्रीय आन्दोलन चला, आज़ादी मिली और विगत ४६ वर्षों से शिक्षा, गृह और प्रचार-नीति के साथ राजनीति का भी निर्धारण होता रहा है। हमारे विचार में या तो इन मान्यताओं में कहीं भयंकर दोष है या फिर सेक्यूलर राष्ट्रवादी इन मान्यताओं को सही ढंग से लोगों को समझा नहीं सके हैं। इसीलिए न केवल भारत के तीन टुकड़े हुए, बल्कि मज़हबी वैमनस्य और राष्ट्रीय एकता की चिन्ता में उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती रही है।

सेक्यूलर राष्ट्रवाद की मान्यता है कि आधुनिक भारत में अनेक भिन्न, पृथक् तथा स्वतंत्र समुदाय रहते हैं। ऐसा उनमें निहित किस गुण के कारण है, अर्थात् इन समुदायों में वह सर्वनिष्ठ तत्त्व क्या है, जो इन्हें अतीत वर्तमान में एक बनाए रखता है और जो भविष्य में भी एक साथ रहने का उनमें दृढ संकल्प उत्पन्न करता है, यह सेक्यूलर राष्ट्रवादियों ने कभी स्पष्ट नहीं किया। केवल यह देख कर कि अनेक लोग एक साथ एक देश में रहते रहे हैं, यह कह देना कि उनमें भावनात्मक एकात्मता है– इतिहास के प्रति मिथ्या दृष्टिकोण और अज्ञान का परिणाम ही हो सकता है। इस्लामी संस्कृति की पृथक् अस्मिता और उसके आधार पर २२ प्रतिशत लोग भारत के ३० प्रतिशत भाग को भारत से अलग कर गए– इस स्पष्ट घटना के बाद भी मिश्रित संस्कृति की गौरवशाली एकात्मता की बात कहना हमारी समझ के बाहर है। स्वतंत्रता के बाद भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के निरन्तर प्रयास किए गए और ऐसा करने वाले कथित हिन्दू ही थे, मुस्लिम नहीं। यही नहीं आज भी मुसलमान नाराज हो जायेंगे तो भारत फिर खण्डित हो जाएगा ऐसा आशंकित आतंक सेक्यूलर राष्ट्रवादियों द्वारा फैलाया जा रहा है। क्या इसके बाद भी मिश्रित संस्कृति की मान्यता को राष्ट्र का गौरव कहा जा सकता है? सेक्यूलर राष्ट्रवादियों की यह मान्यता आर्य आक्रमण की अप्रामाणिक मान्यता वाले

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दृष्टिकोण के आधार पर भारतीय समाज को समझने के प्रयास का परिणाम है। क्या किसी आर्य ने, द्रविड़ ने, जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव ने अपने मज़हब के आधार पर भारतीय होने से इन्कार किया है ? भारत में जो कथित विदेशी आए, या तो उन्होंने अपनी पृथक् पहचान त्याग कर वे भारतीय हो गए या फिर यहां के लोग विदेशियों के साथ एकाकार हो गए । यह अवस्था मिश्रित संस्कृति की नहीं, एक नई संस्कृति की कही जा सकती है, या प्राचीन संस्कृति का परिष्कार है ।

यह सत्य है कि भारत में भाषा, जाति और पंथ की विविधता सदा रही है । भारत देश में राज्य भी कई रहे हैं । फिर भी भारत के जन में एकात्मता किसी बिन्दु पर बनी रही । शंकर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ ये सभी दक्षिण भारत के हैं, लेकिन इन का प्रभाव उत्तर, दक्षिण या भाषा भेद से मुक्त रहा। श्रीकृष्ण और श्री राम दक्षिण के नहीं थे, फिर भी उनका प्रभाव क्षेत्र सारा भारत ही रहा । शक, हूण आदि विदेशी भारत में आए लेकिन आज भाषा, विचार की दृष्टि से अन्य भारतीयों से उन्हें पृथक् पहचान पाना संभव नहीं । अतः सेक्यूलर राष्ट्रवादियों की यह मान्यता गलत नहीं है कि भाषा, पंथ, जाति की विविधता के बाद भी भारत एक है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि सेक्यूलर राष्ट्रवादी धर्म, सम्प्रदाय या संस्कृति को समाज में भावनात्मक एकात्मता का स्त्रोत नहीं मानते । भारत के विभाजन के बाद भी मिली जुली संस्कृति वाला 'राष्ट्र' मानना यह संकेत देता है कि वे देश को भी एकात्मता का स्त्रोत नहीं मानते (अन्यथा तीन बीघा क्षेत्र बंगलादेश को लीज पर देने का निर्णय नहीं लिया जाता) । तब केवल राज्य ही एकात्मता का स्त्रोत माना जा सकता है । सोवियत संघ, पाकिस्तान और चेकोस्लोवाकिया के विभाजन यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि राज्य जनसमुदायों को एक बनाए रखने में सर्वथा असफल होते हैं ।

हम समझते हैं कि सेक्यूलर राष्ट्रवादियों को या तो एक ऐसी नई संस्कृति का निर्माण करना चाहिये जो भारत के विभिन्न समुदायों को एकात्मभाव से आबद्ध करे (दुर्भाग्यवशात् ऐसी नई संस्कृति का निर्माण अभी तक नहीं हुआ यद्यपि ऐसे प्रयास होते हुए दिखाई अवश्य दे रहे हैं उदाहरणार्थ भारत की प्राचीन विचारधारा के युक्तिसंगत आधार पर राष्ट्र निर्माण को साम्प्रदायिक (?) कह कर निन्दा करना, राजनैतिक विरोधियों का कानून की आड़ में दमन करना, धर्म को राजनीति से अलग करने का प्रयास, जाति, सम्प्रदाय और भाषा के आधार पर समाज को बांटना– ये सब उस नई संस्कृति के लक्षण हैं । इसका नाम क्या हो यह विचारणीय है ।) या फिर, यूरोप की संस्कृति और परम्पराओं को अपना लेना चाहिए या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

फिर राष्ट्र वाद का त्याग कर के अंतर्राष्ट्रीयतावाद को स्वीकार कर लेना चाहिए। जो भी करें, आस्था का ऐसा केन्द्र या विषय ढूंढ़ें जो लोगों को एकात्म कर सकें।

राष्ट्रवाद की दूसरी धारा है हिन्दूराष्ट्रवाद की।

हिन्दू शब्द किसी पंथ या रिलीजन का विशेषण नहीं है। यह शब्द सिन्धु से उत्पन्न है। इसका अर्थ वही है जो 'भारतीय' या 'इंडियन' का अर्थ है। अतः हिन्दूराष्ट्रवाद को मज़हबी या थियोक्रेटिक राष्ट्रवाद के अर्थ में नहीं समझना चाहिए। हिन्दू राष्ट्रवादी भी इसको मज़हबी राष्ट्रवाद नहीं मानते। हिन्दू संस्कृति, हिन्दूदर्शन, हिन्दूजीवन दृष्टि, हिन्दुस्थान आदि प्रयोगों से विदेशी मुगलशासकों के आगमन के पूर्व की संस्कृति, दर्शन आदि के अथवा उसकी शाखाओं के लिए ऐसे शब्दप्रयोग प्रयुक्त होते आये हैं। अतः हिन्दू राष्ट्रवाद के अनुसार भारत में वह जनसमुदाय ही राष्ट्र है जिन्हें हिन्दू नाम से जाना जाता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद २५ के स्पष्टीकरण में कहा गया है कि "हिन्दुओं के प्रति निर्देश का यह अर्थ लगाया जायेगा कि उसके अन्तर्गत सिक्ख, जैन या बौद्ध धर्म के मानने वाले व्यक्तियों के प्रति निर्देश है। इसमें ईसाई और मुसलमानों को सम्मिलित न करना यह दर्शाता है कि वैधानिक रूप से भी हिन्दू का अर्थ भारतीय मूल है।

राष्ट्र की अवधारणा की दृष्टि से सेक्यूलर राष्ट्रवादी और हिन्दू राष्ट्रवादी में संभवतः विशेष सैद्धान्तिक भेद नहीं है। लेकिन भावनात्मक एकात्मता के जो तत्त्व भारत को एक राष्ट्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं उनके बारे में सेक्यूलर राष्ट्रवादी जितने अस्पष्ट हैं, हिन्दू राष्ट्रवादी उतने ही स्पष्ट हैं। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं— (स्वामी विवेकानन्द के समस्त उद्धरण रामकृष्ण मठ नागपुर के द्वारा प्रकाशित विवेकानन्द संचयन ग्रन्थ की तृतीय संस्करण से लिये गये हैं।) प्रत्येक राष्ट्र के पास एक विचित्र जीवन-केन्द्र है और जब तक वह जीवन को अक्षुण्ण बना रहेगा, तब तक किसी प्रकार का दुःख या विपत्ति उस राष्ट्र का विनाश नहीं कर सकती। (पृष्ठ ३७५)

"धर्म ही है भारत की यह जीवनी शक्ति और जब तक हिन्दू जाति अपने पूर्वजों से प्राप्त इस महान् उत्तराधिकार को नहीं भूलेगी तब तक संसार में कोई ऐसी शक्ति नहीं जो उसका ध्वंस कर सके" (पृष्ठ ३७६) "राष्ट्र का गौरवमय अतीत राष्ट्र को नियंत्रण में रखता है, और उसका अधःपतन नहीं होने देता।" (पृष्ठ ४३७)

"जाति, धर्म, भाषा ये ही एक साथ मिल कर एक राष्ट्र की सृष्टि करते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं। (पृष्ठ १६९) "प्रत्येक राष्ट्र का एक मुख्य स्वर होता है, एक केन्द्रीय विषय होता है, जिस पर अन्य सभी बातें घूमती हैं। प्रत्येक राष्ट्र की एक विशिष्टता होती है; अन्य सब बातें उसके बाद आती हैं। भारत की विशिष्टता धर्म है।" (पृष्ठ२९६) "भारतीय मन पहले धार्मिक है, फिर कुछ और। अतः धर्म को सशक्त बनाना होगा।" (पृष्ठ १७२)

राष्ट्र जीवन के शाश्वत स्रोत– हिन्दूराष्ट्र वादियों के अनुसार– (१) जिस देश को अनन्तकाल से हमने अपनी पवित्र भूमि माना है, उसके लिए ज्वलन्त भक्ति भावना (२) साहचर्य और मातृत्व भावना, जिसका जन्म इस अनुभूति के साथ होता है कि हम एक ही महान् माता के पुत्र हैं। (३) राष्ट्रजीवन की समान धारा की उत्कट चेतना, जो समान संस्कृति एवं समान पैत्रक दाय, समान इतिहास एवं परम्पराओं तथा समान आदर्शों एवं आकांक्षाओं से उत्पन्न होती है। जीवन मूल्यों की यह त्रिगुणात्मक मूर्ति एक शब्द में हिन्दूराष्ट्रीयता है।[१८]

इस प्रकार हिन्दूराष्ट्रवादी देश, समाज के गौरवमय अतीत, और संस्कृति के प्रति समान रूप से पवित्र भाव, भक्तिभाव को एकात्मता के लिए आवश्यक मानता है। हमारे विचार से सेक्यूलर राष्ट्रवादी भी (यदि वह अन्तर्राष्ट्रीयवादी नहीं हैं तो) इसे स्वीकार करता है। इसलिए वह गौरवशाली परम्परा की बात करता है। मतभेद इस पर है कि परम्परा कहाँ से आरंभ मानी जाय ? और किसे परम्परा के भीतर या बाहर माना जाये ? यह इतिहास दृष्टि पर निर्भर करता है। सेक्यूलर राष्ट्रवादी विदेशी शासकों को, उनके राजनैतिक प्रभाव को भी अपनी परम्परा का अंग मानता है। उसके लिए आधुनिक भारतीय जन आर्य, द्रविड़, मुगल आदि की सन्तान है।

सेक्यूलर राष्ट्रवादी की इतिहास दृष्टि का नमूना है– "राणा प्रताप अकबर से बढ़कर या शिवाजी औरंगजेब से बढ़कर राष्ट्रीय विभूति नहीं है। यही नहीं, भ्रान्तिजन्य इतिहास में उन्हें मिथ्या राष्ट्रीय चरित्र प्रदान करके हम आधुनिक और समसामयिक इतिहास में राष्ट्रविरोधी और विघटनकारी कार्य करते हैं।"[१९] "आखिर किस परिभाषा से वे राष्ट्रीय चरित नायक थे ? और उनका संघर्ष राष्ट्रीय संघर्ष है ? इसलिए कि वे विदेशियों के खिलाफ लड़ते रहे ? मुगल विदेशी क्योंकर थे ? इसलिए कि वे मुसलमान थे ? इस तरह के वीर मिथक स्वतः साम्प्रदायिकता पैदा करते थे।"[२०] दूसरी ओर हिन्दू राष्ट्रवादी मुगल शासकों को पूर्णतः विदेशी मानता है। इसलिए नहीं कि वे इस्लाम नामक किसी मज़हब के मानने वाले थे बल्कि इसलिए वे दूसरे देश से भारत पर आक्रमणकारी बन आए थे और उन्होंने यहां के राज्यों को अपने अधीन करके अपना शासन चलाया। यह कहना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गलत है कि मुगल भारत आकर भारतीय राष्ट्र जीवन में समाहित हो गये। मुगल शासकों ने 'स्वयं को' भारतीय नहीं बनाया, 'भारत को' अपना बनाया। इसलिए वे नहीं बदले, भारत को बदलने का प्रयास किया। अकबर की उदारता एक शासक के स्थायी होने की इच्छा के कारण स्वीकार की गई राजनीतिपरक विवशता थी। सेक्यूलर इतिहासकार मुगल शासकों की महानता के गुण गाते हुए यह अवश्य उल्लेख और प्रचार करते हैं कि उन्होंने राजपूत युवतियों से विवाह किए। लेकिन यह भी उल्लेख करना चाहिए कि कितनी शाही परिवार की युवतियाँ हिन्दुओं में विवाही गईं। आज भी स्थिति वैसी ही है। दूरदर्शनी उपदेशक बार बार यह बताते रहे हैं कि बहुत से संत महात्मा हुए हैं जिन्हें हिन्दू-मुस्लिम समान रूप से पूजते हैं। हमारी जानकारी में इस तरह के जितने संत हुए वे प्रायः मुस्लिम थे और हिन्दुओं ने उनको सम्मान दिया। यदि इतिहासकार ऐसे महान् लोगों की सूची बनाएं जिन्हें हिन्दू-मुस्लिम समान रूप से श्रद्धेय मानते हों तो हमें विश्वास है कि उनमें हिन्दुओं की संख्या तुलनात्मक रूप से नगण्य होगी। आज भी मुसलमान, ऐसे मुसलमान भी जो मूलतः हिन्दू हैं, स्वयं को प्राचीन अतीत से पृथक् करके विदेशी संस्कृति में सप्रयास समाहित होते हैं। अपना, अपनी सन्तान का नाम अपनी भाषा में रखना मानव की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति है। भारत के मुसलमानों में कितनों की मातृभाषा अरबी है? भारत के किस प्रान्त की भाषा अरबी है? भाषा संस्कृति का एक मुख्य अंग है, किसी भी समाज का मूल है। विदेशी भाषा में नामकरण का निहितार्थ भी क्या, समझाना होगा? इसलिए हिन्दू राष्ट्रवादी यह मानता है कि सम्प्रति मुसलमान भारतीय राष्ट्र के नहीं, इस्लाम राष्ट्र या समाज के अंग है। चूंकि इस्लाम राष्ट्र भारतीय नहीं है, जबकि बहुसंख्यक हिन्दू समाज ही यहाँ का राष्ट्र है, समस्त अल्पसंख्यकों को इस राष्ट्र से एकात्म होना होगा[११] तभी आधुनिक भारत "एक राष्ट्र" कहा जाएगा। लेकिन सेक्यूलर राष्ट्रवादी तो यहाँ तक स्वीकार कर लेते हैं कि "किसी मुसलमान के लिए ऐसे राष्ट्रवाद में भावनात्मक स्तर पर साझीदारी हो सकना और उसके प्रति सच्चा उत्साह अनुभव कर सकना आसान नहीं है जिसके राष्ट्रीय चरित नायक इसलिए सम्मान के पात्र बने हैं कि उन्होंने विदेशी मुसलमानों से युद्ध किया"[१२]। यदि यह सही है तो मुसलमानों के लिए उन नायकों के प्रति सम्मान भाव और सच्चा उत्साह रखना कठिन होगा जिन्होंने विदेशी (पाकिस्तानी) मुसलमानों से युद्ध किया। फिर भी क्या मुसलमान और हिन्दू एक समाज या राष्ट्र कहे जा सकते हैं? डॉ. आम्बेडकर हिन्दू और मुस्लिम समुदायों के बीच कथित समानताओं का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि (दोनों समुदायों को) जोड़ने वाली वस्तुओं की तुलना में पृथक्कारी वस्तुएँ अधिक जीवन्त हैं। अतः हिन्दु और मुस्लिम भारत में एक राष्ट्र की रचना करते हैं ऐसा निष्कर्ष भ्रम ही है।[१३] भारत का विभाजन और काश्मीर की विशेष

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समस्या और अयोध्या विवाद डॉ. आम्बेडकर के निष्कर्ष का स्पष्ट प्रमाण हैं। हां, यदि हिन्दू संस्कृति का विस्मरण कर दिया जाय, या राष्ट्र वाद का ही परित्याग कर दिया जाय तो स्थिति भिन्न होगी।

हिन्दूराष्ट्र वादी यह मानते हैं कि भारत या हिन्दुस्थान हिन्दू राष्ट्र ही था और है भी। भविष्य में यह हिन्दू राष्ट्र बना रहे इसके लिए प्रयास करना होगा। राष्ट्र रक्षा का कार्य राज्य का भी उत्तरदायित्व है। अतः राज्य को विदेशी प्रेरणाओं या विचारों के बजाय राष्ट्रीय मूल्यों को संरक्षण देना चाहिए। पूर्वजों के प्रति आदर भाव, अपने अतीत के प्रति गौरवानुभूति का प्रस्फुरण, राष्ट्रीय एकात्मता के लिए आवश्यक है। व्यक्ति का वर्तमान व्यक्तित्व उसके विचार-मूल्य और उपलब्धियों से संरचित होता है। किसी व्यक्ति का अतीत यदि पूर्णतः अनुल्लेखनीय विस्मरणीय और महत्त्वहीन हो तो उसका भविष्य भी आत्म-शक्ति रहित ही होगा। ऐसा व्यक्ति केवल प्रतिक्रियावादी ही होता है। यही राष्ट्र के साथ भी होता है। यदि किसी राष्ट्र के अतीत में गर्व करने लायक नायक या उपलब्धियाँ नहीं हैं तो उसमें "अस्मिताबोध" भी अस्पष्ट, उत्साहहीन और आत्मविश्वास से रहित ही होगा। इसीलिए हर राष्ट्र में इतिहासकार ऐसी उपलब्धियों और ऐसे राष्ट्र नायकों को प्रस्तुत करता है जिन पर राष्ट्र गर्व कर सकें। आत्मगौरव की इस भावना को नष्ट करने के लिए ही योरोपीय इतिहासकारों ने सभी भारतीयों को विदेशी सन्तान निरूपित किया। "इतिहास सामाजिक स्तर पर अस्तित्व का अनुरक्षण और सांस्कृतिक स्तर पर आत्मनुसंधान की संश्लिष्ट प्रक्रिया है, जिसका आश्रय अथवा अधिष्ठान सभ्यता अथवा संस्कृति-सम्पन्न समाज है"।[२४] ऐतिहासिक प्रक्रिया का अधिष्ठान एक विशिष्ट संस्कृति से अनुप्राणित समाज होता है। मिली जुली संस्कृति के रूप में या आर्थिक सम्बन्धों की परम्परा के रूप में इतिहास वास्तव में इतिहास को राष्ट्रवादी बनाता है। अतः हिन्दू राष्ट्रवादी इतिहास की राष्ट्रवादी व्याख्या और प्रस्तुति को राष्ट्र-भावना के लिए आवश्यक समझता है।

हिन्दूराष्ट्रवाद और पंथ–निरपेक्षता :– "असमान मतों, सिद्धान्तों और विश्वास की परस्पर विरोधी व्यवस्थाओं में समायोजन करके उन्हें संयुक्त करने की जो क्षमता हिन्दू संस्कृति में है वह असमान तत्त्वों को समायोजित करके उनके सम्मिश्रण से विविधता में एकता प्रस्थापित करने की उसकी यह कार्यक्षमता संभवतः सम्पूर्ण मानवीय इतिहास में बेजोड़ है"।[२५] "भावी भारत की सांस्थानिक संरचना का विकास करते समय उसे मज़हब, पंथ या रिलीजन के प्रभाव से मुक्त रखना आवश्यक है"।[२६] "कुछ लोगों का अनुमान है कि हिन्दूराष्ट्र की हमारी कल्पना मुसलमान और ईसाई नागरिकों के अस्तित्व के लिए चुनौती है। उससे उनका उन्मूलन हो जाएगा। हमारी राष्ट्रीय भावना के लिए इससे अधिक मूर्खता-पूर्ण और घातक और कुछ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं हो सकता । यह कहना तो हमारी महान् एवं सर्वग्राही सांस्कृतिक दाय का अपमान है ।[२७]

हिन्दूराष्ट्र स्वरूपतः पंथ-निरपेक्ष है । उसकी पंथ-निरपेक्षता एक विशेष अर्थ में प्रतीत होती है । मज़हब या पंथ या रिलीजन व्यक्तिगत आस्था का विषय है । हिन्दू विचारधारा में आस्था और विचार-स्वातंत्र्य सदा स्वीकार किया गया है । शैव, वेष्णव, बौद्ध, जैन, आदि विभिन्न मज़हबों का प्रेममय सहअस्तित्व सदियों से भारत में है । सभी पंथों के प्रचारक अपने मत का निर्बाध प्रचार करते रहे और परस्पर आलोचना-प्रत्यालोचना भी होती रही । आत्मवत् सर्वभूतेषु देखने का सिद्धान्त और व्यवहार हिन्दू विचारधारा का सार रहा है । अतः हिन्दू समाज में सभी पंथों के प्रति प्रेमपूर्ण सहिष्णुता अनिवार्यतः निहित है । इस पंथ-निरपेक्षता की सीमा वहीं तक है जहाँ तक वह व्यक्तिगत आस्था जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति या ईश्वर, अल्लाह या परमात्मा की उपासना तक सीमित है । धन, बल, प्रलोभन या दरिद्र-विवशता का लाभ उठाकर पंथ-परिवर्तन की प्रक्रिया पंथ को व्यक्तिगत आस्था के बजाय सामुदायिक प्रभुत्व की भावना का रूप दे देता है । इस तरह के व्यवहार पंथ-निरपेक्षता की सीमा से बाहर हैं । इसीलिए हिन्दू समाज इस तरह के पंथों के अपने सद्भाव के क्षेत्र में सम्मिलित नहीं करता । हिन्दू राष्ट्र वादी "उपासना की भिन्नता को राष्ट्रीय ऐक्य का विरोधक नहीं मानता। उपासना-पद्धति के अत्यधिक आग्रह का बहाना बनाकर ऐहिक जीवन में पार्थक्य की नीति को ग्रहण करने का तथा विशेष अधिकारों की मांग से राष्ट्र जीवन पर आघात करने की प्रवृत्ति का विरोध करना उसका (हिन्दू राष्ट्रवादी का) स्वाभाविक परम कर्त्तव्य है"।[२८]

हिन्दू राष्ट्र में राज्य धर्मराज्य के रूप में संकल्पित है । "धर्मराज्य थियोक्रेटिक या मज़हबी राज्य नहीं है । थियोक्रेटिक राज्य का अर्थ है जहाँ राज्य किसी पंथ या गुरु के निर्देशों से चलता हो । धर्मराज्य व्यक्ति के विकास, उसके सुख और शान्ति में मज़हब का स्थान स्वीकार करता है । इसलिए राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह एसी अवस्थाएँ पैदा करें जिसमें व्यक्ति अपने मतानुसार जीवन यापन कर सकें"।[२९] राज्य समाज का उपदेशक या निर्माता नहीं और न ही राज्य व्यक्ति का मार्गदर्शक है । राज्य समाज द्वारा परम्परा से स्वीकार किए गए मूल्यों की रक्षा, उपलब्धि और विकास में सहायक मात्र है । भारत के प्राचीन, अर्वाचीन संतों, विचारकों, ऋषियों ने अपने समाज में जिन जीवन-मूल्यों को समझा है, परिभाषित किया है उन्हीं के प्रकाश में धर्म का राज्य पर नियंत्रण होना चाहिए ।

हिन्दू राष्ट्र में पंथ-निरपेक्षता अन्य पंथों के प्रति सहिष्णु भावना के अर्थ में ही तो समाज के लिए मान्य है । सभी पंथों के प्रति समत्व भाव से श्रद्धा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक असंभव आदर्श है । हां, राज्य के लिए सभी पंथ समान हैं । इस अर्थ में पंथ-निरपेक्षता हिन्दू राष्ट्रवाद में मान्य है । इसीलिए हिन्दूराष्ट्रवादी भारत के समस्त नागरिकों के लिए समान कानून की मांग करते हैं ।

अब तक हमने संक्षेम में भारत में राष्ट्र के स्वरूप को लेकर दो भिन्न मतों की प्रवृत्तियों और मान्यताओं को (जैसा हमने समझा है) प्रस्तुत किया है। राष्ट्र होने के लिए समाज में भावनात्मक एकात्मता की आवश्यकता को दोनों ही स्वीकार करते हैं । सेक्यूलर राष्ट्रवादी एकात्मता का आधार उसी परम्परा को मानते हैं, जिसे हिन्दूराष्ट्रवादी भी मानते हैं । दोनों के अनुसार भारत की प्राचीन परम्परा समन्वयवादी और सर्वग्राही है । दोनों ही राज्य का पंथ निरपेक्ष होना आवश्यक समझते हैं । अन्तर दोनों में यह है कि जहाँ सेक्यूलर राष्ट्रवादी वर्तमान भारतीय समाज को भावनात्मक एकात्मता से आबद्ध मानते हैं वहीं हिन्दू राष्ट्रवादी हिन्दू और इस्लाम संस्कृति को दो पृथक् संस्कृतियाँ मानते हैं और इनके अभिव्यक्ति क्षेत्र रूपी समाज को भी पृथक् मानते हैं । सेक्यूलर राष्ट्रवादी भारतीय समाज को भाषा, जाति, पंथ और संस्कृति की अनेकता के द्वारा विभाजित पृथक् तथा स्वतंत्र समुदायों का मिश्रण मानने हैं, तो हिन्दू राष्ट्रवादी इन्हें पृथक् व स्वतंत्र इकाई न मानकर समाज के एकात्म अवयव के रूप में स्वीकार करते हैं । लेकिन मुस्लिम समुदाय को अवयव के रूप में ढालने की आवश्यकता स्वीकार करते हैं । हिन्दू राष्ट्रवादी हिन्दू समाज की विशेषताओं को राष्ट्र की प्राचीन, प्रमुख और मूल धारा मानकर समस्त आगन्तुक धाराओं को इस मुख्य धारा में समाहित करना चाहते हैं, जबकि सेक्यूलर राष्ट्रवादी हिन्दू समाज को भाषा, जाति, पंथ और संस्कृति-भिन्नता को संरक्षण देते हुए उन्हें पृथक् रख कर राज्य के द्वारा एकात्मता स्थापन करना उचित समझते हैं ।

स्वतंत्र भारत में अब तक राज्य के द्वारा सेक्यूलर राष्ट्रवाद को मार्गदर्शक मानकर कार्य किया जाता रहा है । साथ ही तब से ही हिन्दूराष्ट्रवादी विचार भी प्रचार में हैं । विगत कुछ वर्षों से जहाँ एक ओर सेक्यूलर राष्ट्रवाद के प्रभाव में कमी आती दिखाई दे रही है, वहीं हिन्दू राष्ट्रवाद के प्रति रुझान में निरन्तर वृद्धि भी परिलक्षित हो रही है । अन्तर्राष्ट्रीय घटना क्रम में भी उल्लेखनीय परिवर्तन हो रहे हैं । जहाँ एक महाशक्ति कहलाने वाला समाजवादी राष्ट्र बिखर गया और अमेरिका एकमात्र महाशक्ति रह गया, वहीं इस्लामी राष्ट्रवादी प्रवृत्तियाँ भी राज्यों को संगठित कर रही हैं । ऐसे में, भारत की स्थिति बड़ी विचित्र हो गयी । हमने समाजवाद को राष्ट्र का स्वरूप स्वीकार किया और परिणाम स्वरूप सोवियत संघ की ओर अधिक सहृदयता दिखाई । अब वह वाद ध्वस्त हो रहा है । फलस्वरूप अमेरिका और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का दवाव भारत पर बढ़ेगा ही । साथ ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस्लामी राष्ट्रों की मान्यताओं का दवाव भी भारत पर दिखाई दे रहा है । कुवैत प्रकरण में भारत की भूमिका, आतंकवादियों की सरकार (अफगान) को मान्यता देने में आतुरता, रुश्दी की पुस्तक पर भारत में प्रतिबन्ध लगाने में अति उत्साह, अयोध्या में रामजन्मस्थान पर मस्जिद वनाने की त्वरित घोषणा– ये सब इस्लामी दवाव के परिणाम ही प्रतीत होते हैं । इन दवावों से मुक्त होने के लिए उन मूल्यों को स्पष्ट परिभाषित करना होगा, स्वीकार करना होगा जो हमें अपनी स्वतंत्र अस्मिता का बोध करा सकें । अन्यथा हमारी गृहनीतियाँ भी बाह्य दवावों से संचलित होती रहेंगी । भारत किस प्रकार का राष्ट्र है, यह स्पष्ट होने पर ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में हमारी भूमिका की सार्थकता होगी । इसलिए अपने राष्ट्र के स्वरूप को स्पष्ट करना आज की ज्वलंत आवश्यकता है । हमारा अपना स्वरूप स्पष्ट होगा तो दूसरों से अपने सम्वन्धों का स्वरूप भी स्पष्ट होगा, अन्यथा नहीं ।

राष्ट्र की अवधारणा में निहित अतीतमूलक, भविष्योन्मुख भावनात्मक एकता की दृष्टि से सेक्यूलर राष्ट्रवादी ऐसा सर्वनिष्ठ तत्त्व ढूंढने में सर्वथा असफल प्रतीत होते हैं, जो वर्तमान भारतीय समाज को एक राष्ट्र के रूप में स्थापित कर सकें। दूसरी ओर हिन्दूराष्ट्रवादियों पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे राजनीति में मज़हव या रिलीजन का उपयोग करते हैं । लेकिन जैसा कि श्री के. जे. शाह कहते हैं कि यह संभव है रिलीजन (विना साम्प्रदायिक संकीर्णता को अपनाये हुए) की हम एक भिन्न जीवन-(मीमांसा) दे सकें । ऐसी स्थिति में मज़हब का राजनीति के द्वारा या राजनीति का मज़हव के द्वारा उपयोग व्यक्ति और समाज के लिए किया जा सकता है ।"[1] इस विकल्प पर भी विचारमन्थन होना चाहिए । सौभाग्य से अयोध्या-विवाद ने राष्ट्र के स्वरूप संवंधी विचार-मन्थन को गति दी है । इस अवसर का विचारकों को, प्रवुद्ध वर्ग को अवश्य उपयोग करना चाहिए । यह भारत के हित में है ।

हमारे विचार से सेक्यूलर राष्ट्रवाद 'राष्ट्रवाद' नहीं, राज्यवाद है । इसे स्वीकार करने पर राज्य-संकुचन और विखण्डन तथा राज्य के समाज पर नियंत्रण की प्रवृत्तियाँ वढ़ेंगी, जिसका परिणाम देश-विखण्डन या संकुचन के रूप में होगा । वह शक्ति जो भारतीय समाज को एक राष्ट्र के रूप में स्थापित कर सकती है, हिन्दू समाज में, उसके संस्कारों में, उसके प्राचीन ऋषियों के दर्शन में ही निहित है । राज्य टूटते वनते रहे, विदेशी आक्रमणकारी देश को गुलाम बनाते रहे, लेकिन हिन्दू समाज अपनी पृथक् पहचान वनाए हुए है । ऐसा किन विचारों या तत्त्वों से संभव हो सका, उन्हें ढूंढ कर पुनर्प्रतिष्ठित करना होगा । स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में "जव तक हिन्दू जाति अपने अतीत को भूली हुई थी तव तक वह संज्ञाहीन अवस्था में पड़ी रही, और अतीत की ओर दृष्टि जाते ही चहुं ओर पुनर्जीवन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के लक्षण दिखाई दे रहे हैं । भविष्य को इसी अतीत के सांचे में ढालना होगा, अतीत ही भविष्य होगा''। भारतीय समाज में एकात्मता का आधार उसकी आध्यात्मिकता और संस्कृत भाषा ही रही है । साथ ही वर्ण और आश्रम धर्म तथा पुरुषार्थ चतुष्टय समाज को एकात्म स्वरूप प्रदान करती रही हैं। इन्हें कमजोर करने के प्रयासों के कारण समाज सन्तुलन बिगड़ा है । इन अवधारणाओं को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करने और आचरण का आधार बनाने पर ही राष्ट्र के रूप में भारत को अखण्ड रखा जा सकता है ।• यह सब हिन्दूराष्ट्र की रूपरेखा के अंग है । यदि संभव हुआ तो इन पर एक स्वतंत्र लेख हिन्दूराष्ट्र की रूप रेखा में विचार करेंगे, और यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि भारत की समस्त समस्याओं का समाधान हिन्दू जीवन दृष्टि से ही संभव है ।

भारत में वर्तमान असंतोष, संघर्ष और आक्रोश की अवस्था के मूल में स्वतंत्र वैचारिकता का अभाव ही प्रतीत होता है । भारतीय समाज के सभी समुदाय जब तक मुक्त भाव से विचार मन्थन नहीं करेंगे, समस्या परिस्थितयों को केवल बिगाड़ती चली जाएगी । विचार-प्रचार का कार्य राज्य या राज्यनेताओं पर छोड़ देना उचित नहीं है । विचारशील लोग समाज को इनके भरोसे नहीं छोड सकते। एक पक्ष जब विचार-प्रक्रिया को अनदेखा करके शक्ति द्वारा दमन करने का प्रयास करे तो दूसरे पक्ष के पास भी यही विकल्प रह जाता है । इस संघर्ष के निमित्त बने अयोध्या-विवाद की दुर्घटना-रूप परिणति इसीका परिणाम है । राज्य का सारा प्रचारतंत्र केवल हिन्दुओं की निन्दा करने में, उन्हें उपदेश देने में ही लगा रहा। आज हमारे पास रेडिओ, दूरदर्शन जैसे माध्यम हैं । हिन्दू प्रतिनिधियों को अपना पक्ष रखने का पूरा अवसर दिया जाता, और उनकी बात को समझने का प्रयास किया जाता तो संभव था कि दुर्घटना न घटती । अयोध्या-विवाद हिन्दू-मुस्लिम समुदायों का धार्मिक विवाद नहीं था । यह विश्व में बढ़ते इस्लामी आतंकवाद, कट्टरतावाद और सेक्युलर लोगों के द्वारा हिन्दुओं की भावनाओं के तिरस्कार के कारण साम्प्रदायिक असुरक्षा की भावना के परिणाम स्वरूप विचार-प्रक्रिया निष्पक्ष भाव से तेज की गई होती तो परिणाम अन्ततः सुखद होता । अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है । प्रबुद्ध वर्ग निष्क्रियता को त्याग कर विचार और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के संवैधानिक अधिकार का प्रयोग करें । कुछ समय के लिए शास्त्रीय चिन्तन और लेखन के घेरे से बाहर आकर सीधे वर्तमान से जुड़ें ।

बी. कामेश्वर राव

स्वामी विवेकानन्द स्मृति
तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययनशाला
पं रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय,
रायपुर–४९२००० (म. प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संदर्भ और टिप्पणियाँ

१. परा. . (हिन्दी), खण्ड १४, अंक ४, सितम्बर १९९३ "साम्प्रदायिकता : एक विश्लेषण"

२. *भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि*, पृष्ठ ४.

३. यहाँ ये लक्षण ए. आर. देसाई कृत उपर्युक्त ग्रन्थ में उद्धृत के आधार पर हैं।

४. *पाश्चात्य राजनैतिक विचारधारा*, भाग २, के. एन. वर्मा, पृष्ठ ७४५.

५. Documents on Political Thought in Modern India, A. Appadorai, p.488

६. वहीं, पृष्ठ ४९२-९३.

८. द्रष्टव्य ए. आर. देसाई कृत *भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि*, पृष्ठ २३९-४०.

९. *समाज : दार्शनिक परिशीलन*, पृष्ठ ३८.

१०. द्रष्टव्य : "राष्ट्रीयता की परिभाषा चाहे जैसी की जाय, किन्तु राष्ट्रीयता का मूल तत्व है राष्ट्रीय चरित्र की उन निश्चित विशेषताओं का होना जो किसी विशेष राष्ट्र के लोगों में सर्वसामान्य रूप से पाई जाती है और जिसके आधार पर उस राष्ट्र के सदस्य अन्य सदस्यों से अलग पहचाने जाते हैं।"—*राष्ट्रों के बीच राजतीति*, हंस जे. मार्गनथाउ पृ.१९३

११. *Documents on Political Thought in Modern India.* p. 527.

१२. *Anatomy of Confrontation,* Ed. S. Gopal, p. 19.

१३. *Discovery of India,* p. 232.

१४. वहीं, पृष्ठ २५४.

१६. वहीं, पृष्ठ २६९.

१७. *भारतीय संविधान*, अनुच्छेद ५१क का ड., और च.

१८. *विचार नवनीत*, मा. स. गोलवलकर पृष्ठ १३१-३२.

१९. *इतिहास की पुनर्व्याख्या*, राजकमल पब्लिकेशन १९९१, पृष्ठ १३५.

२०. वहीं, पृष्ठ १३३.

२१. मुस्लिम समुदाय के भारत में एकात्म होने के एक रूप के बारे में इशरत हसन अनूवर का सुझाव विचारणीय है– मुस्लिम धार्मिक नेताओं को चाहिए वे "-declare by general consensess that Rama, Krishna, Buddha and Mahavira have been the prophets and Divine messengers commissioned to help and guide spiritually the people of this sub-continent India to discover the same truth, that truth is one and universal which was later on revealed to Mohammad, Guru Nanak and Mahatma Gandhi in our times."

२२. *इतिहास की पुनर्व्याख्या*, पृष्ठ १३५.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२३. *Documents on Political Thought*, p. 491.

२४. *इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धान्त*, सम्पा. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, पृष्ठ २०८.

२५. *पाञ्चजन्य* साप्ताहिक १८-८-९१, पृष्ठ १२ पर उद्धृत विलियम कैप के विचार.

२६. वहीं, पृष्ठ १३.

२७. *विचार नवनीत*, पृष्ठ १३१.

२८. गोलवलकर, *राष्ट्रीय एकात्मता : एक विश्लेषण*, पृष्ठ २३.

२९. *एकात्म मानववाद*, दीनदयाल उपाध्याय, पृष्ठ ६०.

३०. *National Integration and Communal Harmony*, p. 135.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)
आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

२३९. डॉ. (श्रीमती) कमला द्विवेदी
५, प्रधान मार्ग,
महावीर नगर,
जयपुर–३०२०१७
(राजस्थान)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साध साषीभूत कौ अंग

साधु का महत्त्व कबीर-काव्य में बहुल है। साधु वह है जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया हो। साषीभूत का तात्पर्य है जिसने अन्तर्ज्ञानमूलक प्रत्यक्ष ज्ञान (आनंदरूप ब्रह्म) प्राप्त कर लिया हो अथवा जो साक्षी (साक्षिन्) हो उस मूल आनन्द स्वरूप पुरुषोत्तम का। सच्चे संत के लक्षण बता रहे हैं कबीर। *"जो ब्रह्म को सत् समझेगा उसे लोग सत् (संत) समझेंगे।"* तैत्तिरीय उपनिषद्

कबीर निरबैरी निहकामता साईं सेती नेह।
विषया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह ॥ ४९४

भावार्थ : कबीर कहते हैं हरिदास का अंग है निरबैरता (किसी से वैरभाव नहीं) निष्कामता (इच्छा-आशा-स्वार्थभाव का अभाव) और विषयों से उदासीनता। प्रीति केवल उस खालिक से। "विषया सूं न्यारा रहै" अर्थात् विषयासक्त अथवा विषयनिरत न हो– विषय-सुख की ओर जिसका मन है उसका मन भगवान् की ओर नहीं लग सकता है क्योंकि इन्द्रियसुख और आत्मसुख में विरोध है।

कबीर भक्त के स्वभाव और उसके व्यावहारिक जीवन को महत्त्व देते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, कबीर का कथन है कि केवल लक्ष्य की ओर देखो उसी से प्यार करो, उसकी प्राप्ति के लिए शारीरिक सुख की चिन्ता न करो। ऐसा जीवन होने पर स्वार्थवृत्ति नहीं विकसित होगी। फलस्वरूप कोई कामना नहीं रहेगी और जब स्वार्थ का भाव नहीं तब किसी से ईर्ष्या-द्वेष-घृणा नहीं :– समानता का भाव। विषय-भोग से उलटी गति से ही महान् उपलब्धि संभव है।

कबीर की भाषा, शब्दों का चुनाव एवं उनका सम्यक् प्रयोग उपनिषद् की भांति प्रभविष्णु हैं– गागर में सागर भर दिया है। *कठउपनिषद्*– "अज्ञानी जीव बाह्य कामनाओं का अनुसरण करते हैं– वे सर्वत्र फैले हुए मृत्यु-पाश में फंसते हैं *किन्तु धीर पुरुष* अमृतत्व को जानकर इहलोक के अनित्य पदार्थों में नित्य की आशा नहीं रखते।"

परामर्श (हिन्दी) खण्ड १५, अंक १, दिसम्बर, १९९३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

विवृति : *सेती* (साखी १८८, ४३७) । नेह < स्नेह । *न्यारा*, म. *न्यारा*, गु. *न्यारूं*, पं. नेआरा, ओड़ि. *निआरा* (=अलग). *निनार* (पद. ३१३) < अन्य आकार । रहै (३०५) । *संत* < सन्त् *(अस्)* = सन्त्–ऋग्वेद में प्रयुक्त है । सत् (सद्भाव, सन्मति) सन्त् ।[1]

कबीर संत न छोड़ें संतई, जे कोटिक मिलैं असंत ।
चंदन भवंगा बेढ़िया, तऊ सीतलता न तजंत । १२१, ४९५

भावार्थ : कबीर साधु-संत की विशेपता बताते हुए कहते हैं कि जो सत्य को पकड़े हुए है वह परिवेश के प्रतिकूल होने पर भी अपने मार्ग से विचलित नहीं होता । दुष्टों के दुर्व्यवहार को वह अनदेखा करता है क्योंकि वह जानता है कि ये अज्ञानी और मूढ हैं, इनका मन विकारों से भरा है । उदाहरण देकर कबीर स्पष्ट करते हैं चंदन अपना शीतल स्वभाव नहीं छोड़ता भले ही सर्प लिपटे हों चंदन वृक्ष से (चंदन में सर्प लिपटना कवि परम्परा अथवा रूढ़ि है, यह तथ्य नहीं है) ।

संत और सत्य समानार्थी कहे जा सकते हैं—दोनों ही अस् (=है) से विकसित हैं । सत्य (परमसत्य) वही है जो सदा एक रस रहे—विकार की संभावना ही जहाँ न हो । जो संत है वह असंत (असत्य=विकार युक्त) के प्रभाव से दूपित नहीं हो सकता है । शीतलता चंदन और संत दोनों का धर्म है :–

तुलसी ऐसे सीतल संता । सदा रहैं एहि भांति एकंता ।
कहा करें खल लोग भुजंगा । कीन्हौं गरलसील जो अंगा ॥ वै.४७[2]
जो कोइ कोप भरै मुख बेना । सन्मुख हतै गिराशर पैना ।
तुलसी[1] तऊ लेस रिस नाहीं । सो सीतल कहिए जग मांही ॥ वै.४९

विवृति : संत (४८६), छाड़ै (छाड़सी ४७१) । चंदन= संत, भुजंग= दुष्ट । बेढ़िया (बेढ़्या ४८७), भवंगा (भवंग ४६४), तऊन (४७२) तजंत < त्यजति, त्यज्= छोड़ना । मिले (४८६) ।

मनावैज्ञानिक दृष्टि से स्वभाव अथवा आदत की जीवन–व्यवहार में बहुत बड़ी भूमिका है । अभ्यास से मनुष्य वाणी को नियंत्रित कर क्रोध से बच सकता है। तन-मन-वचन से किसी को उद्वेग न हो और किसी के कारण उद्विग्न न हो यही संतई है ।

कबीर हरि का भांवता दूरै थैं दीसंत ।
तन लीना मन उनमना, जगि रूठड़ा फिरंत ॥३॥ ४९६

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कबीर हरि का भांवता झीणां पंजर तांस ।
रैणि न आवै नींदड़ी अंगि न चढ़ई मांस ॥४॥ ४९७

भावार्थ : कबीर साधु-संत की पहचान बता रहे हैं— जो हरि को चाहता अथवा उससे प्रेम करता है वह प्रिय के विरह में, तन से क्षीण—केवल ठठरी-ठठरी-मांस तो चढ़ता ही नहीं उसके शरीर पर, क्योंकि संसार के भोग के प्रति वह उदासीन रहता है । मन संसार के विषयों में नहीं रमता है इसीलिए वह उनमना रहता है । हरिदास को रात दिन स्वामी का, इष्ट का—सुमिरन बना रहता है। उसे रात में भीद नीं नहीं, विश्राम नहीं, विरही क्या जाने नींद, लक्ष्य-प्राप्ति की सतत चिंता ।

विवृति : भांवता (भावई ३९६) भावै २१, भावता ६४९ < भावयति पा.[१] भावति प्रा.[४] भावइ । दीसंत (दीसै ३७३, ४७८) फिरंत (फिरै ३५१, ३६७, ४४०, ४८५) प्रा. फिरइ । बीन < क्षीण । झीण < प्रा. झीण । उनमना < उन्मनस्—नस्क=बेचैना

कबीर अरणता सुखि सोंवणा, रत्तै नींद न आइ ।
ज्यूं जलि टूटै मंछली, यूं बेलंत विहाइ ॥५॥ ४९८

भावार्थ : कबीर राम अथवा हरिनाम में रत (लयलीन) की विरहानुभूति की बात करते हैं—उसे नींद नहीं । उसकी रात्रि तड़फड़ाते-जगते बीतती है— "रैनि विहाइ"। वह प्रिय से मिलने के लिए छटपटाता है, जैसे जल से विलग मछली बेचैन होती है जल में पहुंचने के लिए । जिसे उस परमसत्य के प्रति प्रीति नहीं उसे सुख की नींद आती है— उसके जीवन का कोई लक्ष्य नहीं, इसलिए उसको प्राप्ति की चिन्ता भी नहीं । हरिदास को हरि और हरिनाम सुमिरन की चिन्ता "च्यंता तौ हरि नाउं की, और न चिंता दास ।"(४१)

विवृति : *अरणता* —*अण* प्रा. (=न) + रत । टूटै, टूटना < त्रुदयति=अलग हो जाती है । यूं (४७१) वेलंत—वेल्लु, वेल्लयति= लोटना, वेल्लन । *विहाइ* < हा = त्यागना, छोड़ना, *विहापयति* = बीतता है "जागत रैनि विहाइ" ७२१

कबीर जिनि कुछ जांण्या नहीं, तिन्ह सुख नींदड़ी बिहाइ ।
मैं अबूझी बूझिया, पूरी पड़ी बलाइ ॥६॥ ४९९

भावार्थ : कबीर कहते हैं जब तक प्रिय को जाना नहीं, जब तक उससे प्रीति नहीं, तभी तक चैन है, तभी तक सुख की नींद अर्थात् अज्ञानी सुखी है । जिसे आत्म-बोध अथवा उसका परिचय मिल गया उसे कहाँ चैन । कबीर अपने लिए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहते हैं मैं अबूझी थी अर्थात् प्रिय से परिचय नहीं था तब तक चिंता मुक्त थी पर जबसे उसे बूझा-जाना अथवा उसकी ज्योति को देखा तब से बला मोल ले ली है अर्थात् किसी क्षण भी चैन नहीं। तुल.[१] ५०१, ५०२

सुखिया सब संसार है खाइ अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै ॥ ११२

विवृति : अबूझी = जिसने बूझा-जाना न हो, अबुद्ध। बूझिया = जाना (४५२, ४८९) बलाइ (२७०)। जाण्या नहीं अर्थात् उस एक को नहीं पहचाना। पड़ी (३६१, ४६०) *पूरी* < पूरित, पूर। तुल.

जो वै एकै जांणिया, तौ जाण्या सब जाण।
जो वो एक न जांणिया, तो सब ही जांण अजांण ॥ २००
जब लग जीव परचा नहीं कन्या कुंवारी जाणि।
हथलेवा हौंसे लीया, मुसकल पड़ी पिछांणि ॥ ४६०

कबीर जांण भगत का नित मरण, अणजाणैं का राज।
असर पसर समझै नहीं, पेट भरण सूं काज ॥७॥ ५००

भावार्थ : कबीर कहते हैं ज्ञानी भक्त की नित्य–सतत मृत्यु है, क्योंकि वह उस एक प्रिय को पाने के लिए पागल है। जो अज्ञानी है जिसको उसकी प्राप्ति की चिंता नहीं है वह मौज में है। वह राजा की तरह भोग भोगता है। उसे तो इन्द्रियों की तृप्ति में ही संतोष है— खाना-पीना मौज करना चार्वाकों-शाक्तों की तरह। वे इस संसार की असारता नहीं समझ पाते हैं, उन्हें यह भी नहीं बोध है कि इस असार संसार में इन्द्रियों का प्रसार—उनकी भोग वृत्ति–उन्हें ले डूबेगा। "पसार" दुनिया का कामकाज भी यही है—

"ई संसार असार को धंधा अंतकाल कोई नाहीं हो।" "असार को धंधा अर्थात् असार का प्रसर (प्रसार)— यही "असार पसर" है। पसर < सृ, प्रसर (२७४) तुल. :—

कबीर चिंता चित्ति निवारिये, फिर बूझिये न कोइ।
इन्द्री पसर मिटाइये, सहजि मिलेगा सोइ ॥ २७४

विवृति : *समझै नहीं* = जानता नहीं। "आपण समझै नाहि" (३६०) पेट भरन सूं काल (मुहा.) अर्थात् भोगी का आदर्श पेट भरने तक। *जांण भगत* = ज्ञानी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और भक्त जिसे संसार की असत्यता और उस ब्रह्म की सत्यता का बोध है, साथ ही जो उसकी भक्ति में लयलीन है । ज्ञान-भक्ति एक दूसरे के पूरक हैं—

रैनि को भूषन इंदु है, दिवस का भूषन भानु ।
दास को भूषन भक्ति है, भक्ति का भूषन ज्ञान । ४३ वैरा.
ज्ञान को भूषन ध्यान है, ध्यान को भूषन त्याग ।
त्याग को भूषन शांतिपद, तुलसी अमल अदाग ।। ४४ वैरा.

कबीर पेट भरना, पैसा कमाना जीवन का लक्ष्य नहीं मानते—यह जगत् का धंधा है, माया है जिससे लोभ-मोह-ईर्ष्या को आश्रय मिलता है । जीवन, रहस्य की खोज के लिए है ।

आइंस्टाइन ने कहा है—"रहस्यमयता हमारी सब से सुखद अनुभूति है—सारी सच्ची कला और विज्ञान का स्रोत भी यही है ।"

आज की भोगवादी संस्कृति स्वकेन्द्रित है—अर्थ और पेट भरना । इसी के पीछे मनुष्य भाग रहा है । कवीर सावधान करते हैं इस अज्ञानता के विरुद्ध। जीवन की भूख रोटीमात्र से नहीं मिटती । इसके लिए नैतिक मूल्यों पर आधारित जीवन चाहिए । कबीर ने अनुभव किया कि हिन्दू अकर्मण्य-आलसी-कर्त्तव्यच्युत है । उनकी भोगपरक दृष्टि मंदिर के भोग-प्रसाद तक है । मुसलमान भोग के लिए हिन्दू कन्याओं पर अधिकार करता है, लूटता है, मंदिर का सोना ले जाता है। कबीर मूल की खोज के लिए प्रेरित करते हैं—"आनन्दमूल सदा परसोतम" (३१ सोरठि) "उस आनन्द सू चित लाऊंगा । तो मैं बहुरि न भी जलि आऊंगा ।" ३१ गौडी

कबीर जिहि घटि जांण बिनांण है, तिहि घटि आंवटणां घणा ।
बिन खंडे संग्राम है, नित उठि मन सूं जूझणा ।।८।। ५०१

भावार्थ : कबीर कहते हैं ज्ञानी-विज्ञानी (अध्यात्ममार्ग का पथिक) को चिंता-पीड़ा है, उसके भीतर काम-क्रोध विकारों से जूझने का द्वन्द्व हर समय छिड़ा रहता है—निरंतर वह इन विकरों से मुक्ति के लिए संघर्षरत रहता है, क्योंकि सतत अभ्यास-वैराग्य से ही इनसे छुटकारा संभव है । मन चंचल है । इसको वश में रखना अत्यंत दुष्कर है । सामान्य सूर तलवार से युद्ध करता है, पर भक्त-दास के पास कोई अस्त्र शस्त्र नहीं । केवल मनोबल दृढ निश्चय, सतत संग्राम ही उसके उपकरण हैं । कबीर *"सूरातन कौ अंग"* में कहते हैं—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कबीर मेरे संसा को नहीं, हरि सूं लागा हेत ।
काम क्रोध सूं झूझणां, चौड़े मांड्या खेत ॥ ६५९

तथा,

कबीर घोड़ा प्रेम का चेतनि चढ़ि असवार ।
ग्यान खडग गहि काल सिरि भली मचाई मार ॥ ६७९

विवृति : *घटि* = घट (सं.) = शरीर । *बिनांण* < विज्ञान । *आवटणा* < आवर्तन (वृत्) = चक्कर, भंवर, घूर्णन । "आवर्तः संशयानाम्" पंच. १.१९१ खंडै < खड्ग + सूं (४७४) मन सूं जूझणां = मन के विकारों से लड़ना "कबीर सोई सूरिवां, मन सो मांड़े झूझ ।" ६५५ तथा "कबीरा मरि मैदान में, करि इन्द्रियां सूं झूझ ।" ६५४ जूझ, झूझ < युद्ध युध्, युध्यते = जूझता है ।।

कबीर का *शब्द सामर्थ्य और उनकी शैली* की प्रभविष्णुता अद्‌भुत है ।

कबीर राम बियोगी तन बिकल, ताहि न चीन्है कोइ ।
तंबोली के पांन ज्यूं, दिन-दिन पीला होई ॥९॥ ५०२
कबीर पीलक दौड़ी सांइयां, लोग कहै प्यंड रोग ।
छांनै लंघण नित करै, राम पियारे जोग ॥१०॥ ५०३

भावार्थ : कबीर सायीभूत में उस भक्त के बाह्य लक्षण बता रहे हैं जो राम प्यारे के विरह का अनुभव करता है और उस विरहज्वाला में जलता रहता है, जिसे न शरीर की सुधि है और न भूख प्यास की । इस लंघन-उपवास से उसकी देह रक्ताभाव का शिकार हो जाती है जिससे वह पाण्डु रोगी (पीलिया) अथवा पान सदृश पीला दिखता है । कबीर का बल उस प्रियतम के योग-संयोग पर है । तु. साखी ६३–

गुण गाये गुण ना कटै, रटै न राम वियोग ।
अह निसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूं पावै दुलभ जोग ॥ ६३

विवृति : न *चीन्है कोइ* = लंघन करते करते उसका शरीर इतना कृश-पीत हो जाता है कि वह नितांत भिन्न लगता है । तंबूली < ताम्बूलिक पान < अप.॰ पन्न सं. पर्ण । *दिन दिन* = अनुदिन, दिन-ब-दिन । *पीलक दौड़ी* = पीलापन छा गया । *प्यंड* < पाण्डु । *छांनै*, छांन < छन्न (छद् =ढ़कना)= छिपे-छिपे अथवा ओट में । *लंघण* < लङ्‌घण = उपवास, लङ्घ = लांघना । *जोग* = योग; राम पियारे–कबीर राम को पतिरूप में मानते हैं ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काम मिलावै राम कूं, जे कोइ जाणैं राषि ।
कबीर बिचारा क्या करै जे सुखदेव बोलै साषि ॥ ॥ ॥ ५०४

भावार्थ : कबीर काम के विरोध में नहीं है—काम = प्रेम । बुरी है काम के प्रति आसक्ति अथवा सांसारिक मोह । ईश्वरीय प्रेम (काम) गोपियों का अनुकरणीय है जिन्होंने घर छोड़कर कृष्ण के साथ ऐक्य स्थापित किया—शुकदेव इसके प्रमाण हैं । (शुकदेव, व्यास के पुत्र, जिन्होंने *श्री मद्भागवत पुराण* राजा परीक्षित को सुनाया ।) कबीर तो एक अदना-नगण्य (फा. बेचारा) व्यक्ति है, उसके कहने का क्या महत्त्व । कबीर का कथ्य है कि वे गोपियों की तरह प्रिय के विरह में व्याकुल हैं, उनका उस प्रेम पर कोई वश नहीं—वे तो बिक चुके हैं उस पति के हाथों, उन्हें पातिव्रत धर्म निबाहना है । काम के प्रेरक भाव को जानना अपेक्षित है प्रेम के स्वरूप को जानने के लिए । बोलै साषि = साक्षी रूप में बोलने वाला, प्रमाण । शुक "साक्षीभूत" हैं प्रेमी भक्त के रूप में । शुकदेव ने अप्सरा रम्भा के काममार्ग पर प्रेरित करने के प्रयत्न का सफलतापूर्वक मुकाबला किया । गौड़ी ३३ में भी सुखदेव की चर्चा है ।

"*जे कोइ जाणैं राखि*" = जो कोई काम भाव पर शासन करना अथवा उस पर चौकसी रखना जानता है शुक की भाँति ।

कबीर कामणि अंग बिरकत भया, रत्तभया हरि नांइ ।
साषी गोरखनाथ ज्यूं, अमर भये कलि मांहि ॥१२॥ ५०५

भावार्थ : कबीर पूर्व वाली साखी में जिस काम के उदात्तीकरण की महिमा गा रहे हैं वह हरि और उसके नाम के प्रति है । हरिभक्ति माया के विरोध में है। गोरखनाथ लंगोट के पक्के थे, वे योगी थे, ईश्वरानुरागी थे, उनके उपदेश भक्तिपरक हैं । कबीर गोरख को आदर्श रूप में मानते हैं—ईश्वरीय प्रेम के कारण । वे प्रमाण अथवा साक्षी हैं आत्मज्ञान के । अमर भये कलिमांहि = कलि में चारों ओर हिंसा, ईर्ष्या का बोलबाला है । इससे उद्धार के लिए हरि अथवा हरिनाम की शरण । कबीर का कथ्य है मन को रमावैं हरि में, उसमें रत हो, सांसारिक वस्तुओं में नहीं । *गोरख* कहते हैं :

अजपा जपै सुनि मन धरै पांचों इन्द्रिय निग्रह करै ।
ब्रह्म अगनि मैं होम काया तास महादेव बन्दै पाया ॥
धन जीबन की करै न आस चित न राखै कामिनि पास ।
नाद बिंद जाकै घटि जरै ताकी सेवा पार्बती करै ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(द्रष्टव्य : लेखक की कृति वैष्णव कबीर (पुरस्कृत) में "योगी गोरखनाथ और कबीर" प्रका. भाषा साहित्य संस्थान, १४७, त्रिवेणी रोड़, इलाहाबाद १९८६)

कबीर जदि बिषै पियारी प्रीति सूं तब अंतरि हरि नांहि ।
जब अंतर हरि जी बसै, तब बिषिया सूं चितं नाहिं ॥१३॥ ५०६

भावार्थ : कबीर राम और विषय का पारस्परिक विरोध स्पष्ट करते हुए कहते हैं—एक श्रेयस् का मार्ग है, दूसरा प्रेय का, वैभव का, भोग का (*कठ उपनिषद्*) मनुष्य को इन दोनों में चुनाव करना है । जो विषयी है उसकी प्रीति राम से नहीं संभव है—वह परमार्थी नहीं बन सकता । परमतत्त्व को प्राप्त करने का इच्छुक (सत्यान्वेषी) लक्ष्य की ओर ही दृष्टि रखता है, त्रिगुणात्मक जगत् की ओर नहीं।

सांसारिक वस्तुएँ नश्वर हैं । वह इन्द्रियों को भोग की ओर खींचती हैं। इन्द्रियों का निग्रह अपेक्षित है हरि की प्रीति के लिए । *प्रीति* का प्रयोग कबीर उस परमेश्वर की प्राप्ति के लिए करते हैं (साखी ५०८) चित्त तो एक ही है (ऊधो ! मन न होहिं दस बीस—सूर) चाहे उसे विषयों में लगाये, चाहे किसी महान् उद्देश्य की प्राप्ति में । जिसे सफल होना है वह विषयों में रमेगा नहीं— रत नहीं होगा, वह राम में रत-लयलीन होगा । परमार्थी-अंतरमुखी होता । वह कृतात्मन् होता है—आत्माराम होता है । कबीर कहते हैं "जा दिन कृतमना हुता... हुता कबीरा राम जन" (सा. १५०) कृतात्मन् अर्थात् स्थिर चित्त अथवा पवित्र आत्मा वाला।

कबीर का बल है कि विषयों से आत्मशुद्धि संभव नहीं—आत्मिक शुद्धि, शांति के लिए साधुवृत्ति का होना आवश्वक है । जब भीतर निर्मल होता है, तब आत्मा की ज्योति प्रकट होती है ।

ब्रह्मबिंदूपनिषद्—"बंधाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ।" (विषयासक्त मन बंधन का तथा निर्विषय मन मुक्ति का कारण है ।)

कठ उपनिषद्—'परांचः कामान् अनुयन्ति बाला: ।" (अज्ञानी बाह्य कामनाओं का अनुसरण करते हैं) इसके विपरीत "अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते" = धीर पुरुष अमृतत्व को जानकर इहलोक के अनित्य पदार्थों में नित्य की आशा नहीं रखते ।

कबीर जिहि घट मैं संसा बसै, तिहि घट राम न जोइ ।
राम सनेही दास बिचि, तिणां न संचर होइ ॥१४॥ ५०७

भावार्थ : कबीर संसारी-विषयी को, जिसे राम पर आस्था नहीं है उसे, संशयी कहते हैं—जहाँ द्विधा (दुविधा) है वहाँ तत्त्व-बोध, आत्म-बोध कहाँ ?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अतः संसा (संशय) को निर्मूल करना अपेक्षित है। मोह का कारण संदेह है। जो "राम पियारे" है, पूरी श्रद्धा भक्ति से आत्मा में विश्वास करता है। वह उसके नश्वर रूप में दृढ़तापूर्वक आस्था नहीं रखता है। संशय ही भेद ड़ालता है जीव और ब्रह्म में—ज्ञानी भक्त और ईश्वर में अभेद का सम्बन्ध है। सनेही राम और सनेही दास के बीच तृण का संचार संभव नहीं है। अर्थात्, भक्त और भगवान् में अद्वैत भाव होता है। तृण भेद का प्रतीक है। सनेही राम =सनेही हरि (सा. ७४९) सनेही द्रास (सा. २१०)

विवृति : *जोइ* < ज्योतयति (तिहि घट राम न जोइ = उस शरीर के अन्दर ब्रह्मज्ञान का प्रकाश नहीं संभव है जहाँ संशय है। जोइ (७, बिलावल।) ज्युत् प्रकाशित होना (तु. द्युत्)। जोइया (११३) प्रकाशित किया। *संचर* = सम्+चर, चरति, संचरति = पहुंचता है, निकट आता है। संचारयति = चलाना, हिलांना।
तुलनीय,

पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनन्त।
संसा खूंटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत ॥ १३५
कबीर अंधा नर चेतै नहीं, कटै न संसै सूल।
और गुनह हरि बकसई, कामी डाल न मूल ॥ ३९४

कबीर संशय-ग्रन्थि को दूर करने पर बल देते हैं— "पढ़ै वेद औ करे वड़ाई, संसै गांठि न जाई। "*कठ उपनिषद्* में कहा गया है "जब हृदय की सब ग्रंथियों का छेदन हो जाता है तब मुनष्य अमृत हो जाता है : "यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रंथयः। अथ मृत्योऽमृतो भवति एतावद्धि अनुशासनम्।"

"करत विचार मन ही मन उपजी, नां कहीं गया न आया।
कहै कबीर संसा सब छूटा, राम रतन धन पाया॥" २३ गौड़ी

कबीर स्वारथ को सब को सगा, जग सगला ही जांणि।
बिन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछांणि ॥१५॥ ५०८

भावार्थ : हरिभक्त का लक्षण है जो स्वार्थरहित हो—"बिन स्वारथ"। भक्ति का मूल आधार शुद्ध चरित्र है—चरित्र ही निकष है। संसारी विषयी की प्रवृत्ति स्वार्थपरक होती है, वह "स्वारथि बंधी" है। विरक्त की प्रवृत्ति परसेवा की ओर होती है—वह हरि की प्रीति जानता है। दुश्चरित्र वाला आतमखोजी हो ही नहीं सकता। कबीर संन्यास लेकर हरि प्रीति की बात नहीं करते हैं, उनकी दृष्टि में संसार कसौटी है— यहीं आदमी के अच्छे-बुरे की पहचान होती है। लोग स्वार्थी है इसलिए लोग की राह छोड़कर चले। कबीर किताब बहा देने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की बात करते हैं क्योंकि शास्त्र-ज्ञान तर्क में निपुण बनाता है—आत्मज्ञान के लिए शुद्ध चरित्र अपेक्षित है जो सतत अभ्यास-वैराग्य से संभव है । *कठ उपनिषद्* में कहा गया है—*"जो दुश्चरित से विरत नहीं हुआ, जो अशांतचित्त है वह इस आत्मा को नहीं देख सकता ।"* तुल.

कबीर तेरा संगी को नहीं, सब स्वारथिबंधी लोइ ।
मन परतीति न ऊपजै, जीव बेसास न होइ ॥ २६५

कबीर सब जग हंडिया, मंदल कंधि चढाइ ।
हरि बिन अपना को नहीं सब देखे ठोकि बजाइ ॥ ५९४

विवृति : *सब को* = सब कोइ, *कोइ* प्रा. कोइ, कश्चिद्, केचिद् (४७०, ४८१, ४८८, ५९४) *सगा* (१) । *सगल*-सगला = सकल । जांणि < ज्ञा, जानाति = जानता है, परिचित है । (४६०) बिन < बिना । *पिछांणि* प्रत्यभिजानाति =पहचानता है (४६०) "पीव पिछांणन कौ अंग" । *पिछांणन* < प्रत्यभिज्ञान । हरि की प्रीति अथवा "हरि के नाउं सूं "प्रीति" (५५७) *प्री* = प्यार करना, प्रीतड़ी (१९३, २२८)—

"कबीर हरि के नाउं सूं, प्रीति रहै इकतार ।
तौ मुख तै मोती झड़ै, हीरै अंत न पार" ॥ ५५७

कबीर का बल राम प्रीति पर है—सांसारिक जीवन अथवा व्यवहार तभी निर्मल होता है जब भीतर उस साईं की अनुभूति हो—सर्वत्र वह दिखाई दे ।

कबीर जिहि हिरद आइया, सो क्यूं छानां होइ ।
जतन जतन करि दाबिये, तऊ उजाला सोइ ॥१६॥ ५०९

भावार्थ : आत्मानुभूति अथवा आत्मज्ञान प्रकाश है, वह ज्योतिस्वरूप है । हृदय में यदि वह प्रकाश है तो उसे छिपाया नहीं जा सकता, वह प्रच्छन्न (ढ़ंका) नहीं रह सकता है । कितना भी कोई यत्न करे कि संतई छिपी रहे पर यह संभव नहीं । अर्थात्, संत का शुद्ध आचरण—व्यवहार, उसका पवित्र चरित प्रमाण है उसके दीप्ति युक्त होने अथवा हरिभक्त का । जहां हरि की अनुभूति नहीं है वहां अंधकार है । मनुष्य को अपने घट (शरीर) में उस आत्मा-परमात्मा का अनुभव करना चाहिए । छां*ना* (५०३) सोइ (३४०, ४६९, ४७३) *दाबिये* = दबाइए < दब्ब् = दबाना, दावना गु. *दाबवुं* म. *दाबणे* ।

कछु कछु चेति देखि जीव अबहीं । मनिषा जनम न पावै कबहीं ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सार आहि जे संग पियारा । जब चेतै तब ही उजियारा ॥ रमैनी, *बड़ी अष्टपदी*

कबीर फाटै दीदै मैं फिरूं, नजरि न आवै कोइ ।
जिहि घटि मेरा सांइयां, सो क्यूं छांनां होइ ॥१७॥ ५१०

भावार्थ : कबीर कहते हैं मैं आंख फाड़-फाड़ कर चारों ओर देखता हूं पर कोई हरि भक्त नहीं दिखाई पड़ता—सब आपा अथवा स्वार्थ में मस्त । कोई परमार्थी-रामपियारा नहीं । यदि हृदय में राम का वास हो तो उसे छिपाया नहीं जा सकता है, ऐसे संत का प्रकाश स्वतः प्रकट हो जाता है । संत कौन—(४९४)।

विवृति : छांना = ढ़का हुआ (५०९) = अंधकार पूर्ण : स्वार्थ पूर्ण, विषयरत। दीदा (फा. दीदा) फाटै दीदै = खुली आंख से । फिरू प्रा. फिरइ । फाटै =फटा, स्फट्, स्फटति, स्फाटयति - फाड़ता है, स्फुट = फटा, स्फुटित = फटा ।

कबीर सब घटि मेरा साइयां, सूनी सेज न कोइ ।
भाग तिन्हौं का हे सखी, जिहि घटि प्रगट होइ ॥१८॥ ५११

भावार्थ : कबीर अपने को प्रेयसी मानते हैं परम पति का—कहते हैं वह तो घट-घट (शरीर) में है, सर्वत्र है, किसी की शयूया उस प्रियतम से खाली नहीं है । बात केवल उसकी अनुभूति की है, उसके रंग में रत होने की है । कबीर मानते हैं कि ब्रह्म घट-घट व्याप्त है—सर्वत्र उसी का प्रसार, पर बिना अन्तर्मुख हुए उसका अनुभव नहीं हो सकता । इन्द्रियों को बाह्य सुख की ओर से मोड़कर जब आत्मा की ओर लगावे तब वह ज्योतिर्मय इसी घट में दिखाई पड़ता है। कबीर का स्वामी राम केवल उनका नहीं है—सब का है, वह सब का सनेही है ।

विवृति : *सून*, सूनी < शून्य = खाली प्रा. *सुण्ण* । सेज < शयूया । "सब घट मेरा साइयां"—"जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस फुनि रसना नहि राम (५२), ऐसे घटि-घटि राम है, दुनिया देखै नाहि । (:७६१) "राम रतन पाया पाया घट माहिं ।" २६ भैरूं

कबीर ज्यूं नैनौं में पूतली, त्यूं खालिक घट मांहिं ।
मूरिख लोग न जांणहीं, बाहरि दूंढण जाहिं । ७६९

कबीर पावक रूपी राम है, घटि घटि रह्या समाइ ।
चित चकमकक लागै नहीं, ताथै धुंवा है है जाइ ॥१९॥ ५१२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भावार्थ : राम ज्योति रूप में घट-घट = प्रत्येक प्राणी में समाया हुआ है। अर्थात्, प्रत्येक मनुष्य में उसका निवास है। पर वह चित्तस्थिरता से ही अनुभव किया जा सकता है अथवा प्रगट हो सकता। मन विषयों से हटकर जब तक सर्वभावेन उस की ओर न लगेगा तब तक आत्मज्योति का साक्षात्कार नहीं होगा।

चित्त चकमक पत्थर की भांति है, सूर्य की किरणें केन्द्रित होने पर ही उसमें से लौ निकलती है अन्यथा धुंआ ही निकलेगा। चित्त चकमक लागै नहीं—अर्थात् चित राम से संलग्न नहीं होता उससे जुड़ता नहीं, उसकी लौ लगे तो आत्मानुभूति ही—"ह्रिदा भीतरि हरि वसै, तू ताही सौ ल्यौ लाइ।" ४३६ पावक = ज्योति—

"दसवां द्वारा देहुरा, तामै जोति।" ४३५ "नाना वांणी बोलिया जोति धरी करतारि।" ५८४ ज्योति = व्रह्म ज्योति "अन्तः ज्योति" (५.२४ *गीता*)।

कवीर पाणी केरा पूतला, राख्या पवन संवारि।
नाना वाणी बोलिया, *जोति* धरी करतारि ॥ ५४४

कबीर खालिक जागिया और न जागै कोइ।
कै जागै विपई बिष भर्‌या, कै दास बंदगी होइ ॥२०॥ ५१३

भावार्थ : कवीर का कथ्य है "सिरजनहार" = सृष्टिकर्ता चेतन है, वह सदा जागता रहता है। सचेतन होना ही उपलब्धि है। जागना अर्थात् किसी भी क्षण भय, संशय, द्विविधा का शिकार न होना, विनाशात्मक भावों के चक्कर में न पड़ना। यही "अवेयरनेस" है। राम सनेही–सेवक वही है जो सदा जागरूक रहे, विपयों से मोहग्रस्त न हो। कबीर कहते हैं या तो कामी-विपयी इन्द्रियों की संतुष्टि के लिए जागता है या दास-भक्त। दास एक क्षण भी अपने स्वामी को नहीं भुलाता। *गीता* में कहा गया है जब सब संसार सोता है अर्थात् विषयों में लिप्त रहता है तब संयमी जागता रहता है– 'या निशा सर्वभूतानाम् तस्यां जागर्ति संयमी।" *(गीता* २.६९)

कबीर के "जागने" का आशय है शुद्ध हृदय होना, काम-क्रोध तस्करों से सचेत होना और रामनाम से लौ लगाना।

विवृति : विपई < विपयिन् = विपयी, भोग विलासी। बिष < विष = जहर, हलाहल : "कबीर मूल निकंदिया कौण हलाहल खाइ।" "४३४" 'अमृत छांड़ि हलाहल खाया, लाभ लाभ करि मूल गंवाया। कहै कबीर हम बनज्या सोई, जाथैं आवागमन न होई ॥' २९ सोरठि। *खालिक* (सा. ४१७)

"जागहु रे नर सोवहु कहा।" २६ भैरूं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाग्या रे नर नींद नसाई । चित चेत्यौ च्यंतामणि पाई ॥
कहै कबीर अब सोवौं नाहिं । रामरतन पाया घट माहिं ॥ २७ भैरूं

कबीर चाल्या जाइ था, आगे मिल्या खुदाइ ।
मीरा मुझ सूं यूं कह्या, किन फुरमाई गाइ ॥२१॥ ५१४

पाठान्तर—कबीर हज़ काबे ज़ाइ था, आगै मिल्या खुदाइ ।
साई मुझ रसिउं लरि परिआ, किन फुरमाई गाइ ॥।१२॥

टिप्पणी : पहला पाठ नागरी प्रचारिणी सभा सं. श्याम सुंदर दास का है । यही पाठ माता प्रसाद गुप्त ने स्वीकार किया है । उन्होनें जो पाठान्तर दिया है वह भी दिया जा रहा है । पाठान्तर, अर्थ की दृष्टि से, अधिक संगत है— गुप्त जी के द्वारा किया गया अर्थ—"आप गाकर क्यों नहीं कहते हैं ? (उसे कहने के लिए मेरे समक्ष उपस्थित होने की अपेक्षा नहीं है ।") पर, "किन फुरमाई" का अर्थ है = "कौन आदेश देता है ?" 'गाइ' गाना के आकूत में नहीं, *"गाइ" गाय*, गऊ का वाचक है । *"किन फुरमाइ गाइ"* अर्थात् गोवध अथवा गोकसी मुसलमान क्यों करता है ? मेरा ऐसा फर्मा नहीं, किसने हत्या-वध कहा है ?

"आगे मिल्या खुदाइ" का भाव है सिरजनहार" "रचनाहार" "कर्त्तार" सर्वत्र है । काबा (मक्का में काबा एक इमारत जिसे मुसलमान खुदा का घर मानते हैं) जाने की अपेक्षा नहीं । वे हमारे घट में हैं, सुमिरन करो तो वे प्रकट हैं।

तुल. "तब नहिं होते *गाय*, कसाई तब कहु बिसमिल किन फुरमाई । रमैनी। बिसमिल (२७८) "बिसमिल भेंटि'" विसंभर एकै, और न दूजा कोई ।" ५८ गौड़ी। कबीर कहते हैं बिसमिल करना है तो काम-क्रोध का करो—

"हरिगुन गाइ बंग मैं दीन्हा, काम क्रोध दीउ बिसमिल कीन्हा ।" ६० *गौड़ी*

तथा "बिसमिल तामस भर कंदूरी, पंचों भपि ज्यूं होइ सबूरी ॥" ६१

कबीर "हजु काबे" गए नहीं, "ना कहीं गया आया" २३ *गौड़ी* । मुसलमानों को समझाने के लिए वे कहते हैं—

अलह राम जीऊं तेरे नांई ।

क्या उजू जप मंजन कीये, क्या मसीति सिर नांये ।
रोज़ा करै निमाज गुजारे, क्या हज़ काबै जाये ॥ ५२ आसावरी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तथा, कबीर सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज़ काबै जाइ ।
जिनकी दिल स्याबति नहीं, तिनकौं कहा खुदाइ ॥ ४१९

तथा, हज़ काबे ह्वै ह्वै गया, केती बार कबीर ।
मीरां मुझमें क्या खता, मुखां न बोलै पीर ॥ ७९७

विवृति : *किनि* = किन, कौन, (अप. कवण), पं. कौण < "कः पुनर्" *क्यों, की, क्यूं क्या* < प्रा. *कि, की,* पं. *सं. किम्* । फुरमाई (फा. फर्मा = आदेश, फर्मान = शाही आज्ञा, हुक्म फर्मा = हुक्म फरमाने वाला) गाइ < *गावी प्रा. गावी, गाई, (गो)* । मीरां = मीर =मालिक (१४१, ७९७) यूं (४७१, ४९८)।

१४७, त्रिवेणी रोड,
इलाहाबाद–२११००३
(उ.प्र.)

हरिहरप्रसाद गुप्त

टिप्पणियाँ

१. संकेत :– म = मराठी, गु = गुजराती, पं = पंजाबी, ओड़ि = ओड़िया, पद् = पद्*मावत* (जायसी)

२. संकेत :– वै = *वैराग्य सन्दीपनी* (तुलसी)

३. संकेत :– पा = पालि, प्रा = प्राकृत

४. तुल = तुलनीय

५. पंच = पंचतंत्र

६. अप = अपभ्रंश

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आचार्य पाणिनि की शास्त्रलाघवार्थ प्रयुक्त पद्धतियाँ

महर्षि पाणिनि ने व्याकरण को लघुत्तम बनाने हेतु जिन पद्धतियों का आश्रय लिया है, उनका संक्षिप्त विवेचन ही इस निवन्ध का ध्येय है। शास्त्रों की लाघवता की आवश्यकता क्या है, इस जिज्ञासा के समाधान में हम देखते हैं कि विस्तृत तथा विशालकाय शास्त्र, दृढजिज्ञासुओं के अभाव में नष्ट तथा निरर्थक हो जाता है। पाणिनि से पूर्व बृहस्पति तथा इन्द्र ने विशालकाय शब्दशास्त्र बनाया जो कि शब्दों का संकलन था। यह शास्त्र शब्दों तथा वाक्यों की अनन्तता के कारण पूर्ण ही नहीं हुआ, हजारों दिव्य वर्षों में दीर्घजीवी देवगुरु बृहस्पति तथा देवराज इन्द्र लिखते गये, इस विशाल अपूर्ण शब्दशास्त्र को पढ़ने में कोई समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य सैकड़ा वर्ष ही जी सकता है। विद्या का केवल अध्ययन ही पर्याप्त नहीं होता, क्योंकि अध्ययन के पश्चात् बोध, आचरण तथा प्रचार भी आवश्यक है। इस तथ्य को महाभाष्यकार पंतजलि ने स्पष्ट शब्दों में कहते हुए लाघवता की आवश्यकता स्पष्ट की है–

> 'एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम, किं पुनरद्यत्वे। यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति। चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवन्ति-आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति। तत्रचास्यागमकालेनैवायुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात्। तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः।' *(पतंजलि महाभाष्य* १.१.१, पृ. २० चारुदेव शास्त्री संस्करण)

इस कथ्य से एक दूसरी बात भी अभिव्यक्त हो रही है कि साधु शब्दों के संकलन से भी पूर्णशास्त्र निर्माण सम्भव नहीं है। पूर्ण शास्त्र निर्माण के लिए शब्दों का संकलन न करके, लक्षणों का निर्देश करना चाहिए। अर्थात् शब्द लक्ष्य है और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सूत्र उनका लक्षण । सूत्रों का निर्माण करके ही हम लघुत्तम व्याकरण बना सकते हैं । यह महाभाष्य के इस उद्धरण में स्पष्ट है–

'कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः । किञ्चिसामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम् । येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन् ।'
(*पतंजलिमहाभाष्य*, १.१.१, पृ. २० चारुदेव संस्करण)

(तो शब्दों को कैसे जाना जाय ? कोई छोटा-सा सामान्य विशेष वाला लक्षण बनाना चाहिए, जिससे थोड़े से यत्न से वड़ी-बड़ी शब्दराशियों को जाना जायें।)

अतः पाणिनि ने सूत्रों में व्याकरणशास्त्र का निर्माण किया जो अल्पाक्षर होने पर भी विशालार्थ का निर्देशन करते हैं । सूत्रशैली का समाश्रयण लघुता के लिए ही है, क्योंकि सूत्र लघुरूप होने पर भी विशाल अर्थ का प्रतिपादन करने में सक्षम है । यह सूत्रलक्षण से सिद्ध है–

लघूनि सूचितार्थानि, स्वल्पाक्षरपदानि च ।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः ॥
अल्पाक्षरम् असंदिग्धं सारवत् विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभम् अनवद्यञ्चसूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ (*वायुपुराण* ४.९.१४२)

(सूत्र लघु अर्थ को सूचित करने वाले, स्वल्पाक्षर पद वाले सब तरह से सारभूत हैं, ऐसा मनीषी कहते हैं । अल्पाक्षर, संदेहरहित, सारयुक्त, विस्तृत अर्थ वाला, अस्तोभ (वृत्तगतिक) तथा दोपरहित को सूत्रज्ञ सूत्र कहते हैं)

अतः पूर्वमीमांसा में इस पद्धति के बोरे में कहा गया है–

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः ।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ॥
(पूर्वमीमांसा २.१.३२ *शाबरभाष्य*)

(ऋषिजन भी पदार्थों का पृथक् पृथक् विवेचन करके अन्त को नहीं प्राप्त करते हैं, विपश्चित् लक्षणों से ही सिद्धान्तों को बनाते हैं ।)

सिद्धान्त निर्माण हेतु सूत्र शैली ही सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि इसमें लाघव है । इस शैली का समाश्रयण पाणिनि द्वारा गृहीत होने पर आचार्य ने शास्त्र का आकार बड़ा देखकर पुनः कुछ पद्धतियों का प्रयोग लाघवार्थ किया है । दो प्रकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का लाघव पाणिनि का लक्ष्य रहा है। प्रथम, सूत्र में पदों का यथासम्भव कम करना। द्वितीय, सूत्रों की संख्या को यथासम्भव कम करना। इन दोनों तरह के लाघवार्थ प्रयुक्त पद्धतियों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत निबन्ध का विवेच्य है। इस विषय में विस्तृत अध्ययन हेतु डॉ. किशनलाल गौड 'व्योम शेखर' की उपयोगी एवं आधारभूत प्रामाणिक कृति *पाणिनीय अष्टाध्यायी के रचना-सिद्धान्त* अवलोकनीय है।

१. सूत्रों में पद लाघव की पद्धतियां

१. क्रियापदों का त्याग

२. कारण (हेतु) सूचक पदों का त्याग

३. पुनः पुनः आने वाले शब्दों का लोप करना (अधिकार एवं अनुवृत्ति द्वारा)

४. संज्ञा सूत्रों (पारिभाषिक शब्दावली) का निर्माण

क– अनुबन्धमूलक प्रत्याहार (वर्णसमुच्चय)

ख– अनुबंधित संज्ञायें

५. परिभाषा सूत्रों द्वारा विधि सूत्रों में पदों की सम्प्राप्ति

२. सूत्र संख्या लाघवार्थ प्रयुक्त विधियां

१. उत्सर्गापवाद पद्धति

२. असिद्धविधान

३. धातुपाठ तथा गणपाठ पद्धति।

१.१ क्रियापदों का त्याग– पाणिनि ने अपने सम्पूर्ण सूत्रों से विधेयपरक क्रियापदों को हटा दिया है। वाक्य में एक क्रिया-पद होना व्याकरण मतानुसार आवश्यक है। बिना क्रियापद के वाक्य परिपूर्ण नहीं होता है। यह *महाभाष्य* में सिद्धांतित है। अतः जिस वाक्य में क्रियापद नहीं हो वहां 'अस्ति' आदि पदों का अध्याहार कर लेना चाहिए। अतः पाणिनि ने सूत्रों में क्रिया पदों को नहीं पढ़ा, व्याकरणशास्त्र के अध्येता को सर्वत्र सूत्रों में अस्ति या स्यात् आदि पदों का योजन कर लेना चाहिए।

यहाँ अवधेय है पाणिनि के कुछ सूत्रों में दृश्यते आदि क्रिया पदों का विशेष कारण से उल्लेख है, वह पूर्व सूत्रों द्वारा प्रतिपादित परिधि से बाहर के क्षेत्र के ग्रहण हेतु है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१.२. कारण (हेतु) सूचक पदों का त्याग– *अष्टाध्यायी* प्रक्रिया ग्रन्थ है । वहाँ आचार्य ने एक सावधानी रखी है कि कहीं पर भी हेतुसूचक पञ्चम्यन्त पद का प्रयोग न हों । क्योंकि प्रत्येक विधान के साथ कारण निर्देश करने पर शास्त्रवृद्धि तो होती ही, अपितु क्यों और कैसे आदि के प्रश्न भी हेतुवादी खड़े कर देते। शास्त्र में अनेक विवादास्पद स्थितियां खड़ी कर देते । इन सब अनावश्यक विवादों से बचने के लिए शास्त्रकार ने हेतुनिर्देश करने का कष्ट नहीं किया है । पाणिनि से पूर्व शाब्दिकों की परम्परा में बहुत विवादग्रस्त विषय थे । यास्क के *निरुक्त* में ९४ आचार्यों के परस्पर विरोधिमतों की चर्चा है । पाणिनि ने लाघव लक्ष्य की तरह असंदेह (निर्विवाद) व्याकरण का प्रमुख लक्ष्य रखा है । यहां पर अवधेय है कि पाणिनि ने कुछ सूत्रों-में हेतु-सूचक पदों को रखा है, लेकिन वहां पर हेतु-सूचक पदों का प्रयोग अपने निर्दुष्ट पक्ष के प्रतिपादन हेतु किया गया है ।

१.३. पुनः पुनः आने वाले पदों का त्याग– पाणिनि पूर्व सूत्र में आये हुए पद का उत्तर सूत्र में पुनः पाठ नहीं करते हैं । उसके लिए रिक्त स्थान छोड़ देते हैं । अध्येता स्वयं परम्परानुसार सूत्र में अदृष्ट पद का अन्य सूत्रों में दृष्ट पदों से अनुवर्तन कर लेता है । यह वरदराजाचार्य के इस कथन में सुस्पष्ट है– 'सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र ।'[३] इसे अनुवृत्ति कहा जाता है । अग्रिम सूत्रों में अर्थबोध-हेतु जिन जिन पदों की अपेक्षा है उन-उन पदों को पूर्व सूत्र में आकृष्ट किया जाता है । इस पद्धति से सूत्रों का आकार २५ प्रतिशत रह गया है ।

इस अनुवृत्ति वाली पद्धति का आश्रयण एक अन्य रूप में भी किया गया है– अधिकार सूत्र के रूप में ।

अधिकार सूत्र– महर्षि पतजंलि ने तीन तरह के अधिकार सूत्र स्पष्ट रूप में तथा एक अन्य प्रकार का-अधिकार सूत्र- भी उल्लेख किया है–

> अधिकारो नाम त्रिप्रकारः । कश्चिदेकदेशस्थ सर्वशास्त्रमभिज्वलयति, प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्माभिज्वलयति । अपरोधिकारः यथा रज्ज्वा अयसा वा बद्धं काष्ठमनुकृष्यते तद्वदनुकृष्यते चकारेण । अपरोऽधिकारः प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थ इति योगयागे उपतिप्ठते ।[४]

> 'अथवा मण्डूकगतयोऽधिकाराः । तद्यथा मण्डूकाः उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वदधिकाराः ।[५]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(अधिकार तीन तरह का है । प्रथम, एकदेश में स्थित सम्पूर्णशास्त्र को प्रकाशित करता है जैसे सुप्रज्वलित प्रदीप एक स्थान पर रहता हुआ सम्पूर्ण घर को प्रकाशित करता है) इसके उदाहरण हैं प्रत्यया: (*अष्टाध्यायी* ३.१.१), तद्धिता: (*अष्टाध्यायी* ४.१.७६)

दूसरा अधिकार सूत्र है, रस्सी या लोहे के द्वारा बन्धे हुए काष्ठ की तरह अग्रिम सूत्र में किसी पद को चकार के द्वारा खींचना । इसका उदाहरण है उपसर्गा: क्रियायोगे (*अ.* १.४.५९) एवं गतिश्च (अ. १.४.६०) अर्थवदधातुरप्रत्यय: प्रतिपदिकं (अ. १.२.४५), कृतद्धिसमासाश्च (अ. १.२.४६)

तीसरा अधिकार वह है जब तक ही स्थानों आदेश या निमित्त को प्रत्येक सूत्र में न कहकर एकत्र कहता है । इस प्रकार में पूर्वकथित सूत्रों के पद उत्तर सूत्रों में अनुवर्तित होते हैं ।

अथवा मण्डूक गति वाले अधिकार होते हैं । जैसे मैंढक उछल-उछल कर गमन करते हैं वैसे ही कुछ अधिकार सूत्र बीच-बीच में सूत्रों को छोड़कर प्रवृत्त होते हैं ।

१.४. संज्ञासूत्रों (पारिभाषिक शब्दावली) का निर्माण– शास्त्रकार ने 'लघ्वर्थ-संज्ञाकरणम्' में पतंजलि के कथनानुसार' अनेक संज्ञा सूत्रों का निर्माण किया है जिससे लघ्वर्थ की सिद्धि कैसे होती है यह अग्रांकित प्रत्याहारों के विवेचन से स्पष्ट होगा ।

१.४.१ अनुबन्धमूलक प्रत्याहार– यह प्रत्याहार एक तरह से बीजगणितीय शैली से समुच्चयों का विधान करता है । पाणिनि ने तीन तरह के समुच्चयों का प्रयोग किया है– वर्णबोधक, प्रकृतिबोधक तथा प्रत्ययबोधक ।

'वर्णबोधक' प्रत्याहारों का उल्लेख पाणिनि इस सूत्र के द्वारा करते हैं– 'आदिरन्त्येन सहेता' (अ. १.१.७१) सूत्र का अर्थ है अन्त्य इत् सहित आदिवर्ण अपने सम्पूर्ण समुदाय का बोधक है । पाणिनि ने अपने चौदह माहेश्वर सूत्रों से इस प्रत्याहार विधायक सूत्र के द्वारा ४२ प्रत्याहार बनाये हैं ।

'प्रकृतिबोधक' प्रत्याहार का उल्लेख केवल एक सूत्र की *काशिकावृत्ति* में प्राप्त होता है । कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि (अ. ३.१.४०) सूत्र की वृत्ति में लिखा है– 'कृञितिप्रत्याहारेण कृभ्वस्तयोगृह्यन्ते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'प्रत्ययबोधक' समुच्चयों में भी आदिरन्त्येन सूत्र वाली विधि का प्रयोग हुआ है। आदिप्रत्यय या उसके एक भाग से लेकर अन्तिम प्रत्यय के अन्त्य इत् से जोड़ दिया गया है। ऐसे प्रत्याहार हैं– सुप्, सुट्, आप्, तिङ्, तङ्, तृन् ।

१.४.२. अनुबन्धित संज्ञाओं के द्वारा पाणिनि ने अतिलाघव को प्राप्त किया है, क्योंकि अनुबन्ध मूलक संज्ञा अपने लघुरूप से विशाल शब्द परिवार को सूचित करती है। जैसे हित्, कित् आदि।

सावर्ण्यमूलक अण् तथा उदित संज्ञाएँ– पाणिनि के सूत्र अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (अ. १.१.६९) के अनुसार अण् (अ, इ, उ, लृ, ओ, ऐ, औ, ह, य्, व्, र्, ल) अपने सवर्णों के बोधक होते हैं तथा उदित (कु चु टु तु पु) अपने वर्ग के पांच वर्णों के बोधक हैं।

यहाँ यह अवधेय है कि सवर्ण वर्ण की आवश्यकता नहीं हो वहाँ पाणिनि ने 'तपरस्तकालस्य' (अ. १.१.७०) सूत्र के द्वारा तपर संज्ञाएं की हैं। इसी तरह तदन्त संज्ञा 'येनविधिस्तदन्तस्य' (अ. १.१.७२) के द्वारा तथा अलोन्त्यात्पूर्व उपधा (अ. १.१.६५) के द्वारा उपधा संज्ञा से तोपध, कोपध, नोपध आदि शब्द परिवारों का वर्गीकरण किया हैं। इसी प्रकार पाणिनि ने कुछ कृत्रिम संज्ञाएँ बनाईं हैं जिनका कोई अन्वर्थ ज्ञात नहीं होता है, जिन्हें केवल शास्त्र लाघव हेतु कल्पित कर लिया गया है जैसे– टि, घु, आदि संज्ञा।

१.५. परिभाषा-सूत्रों द्वारा विधि सूत्रों में पदों की सम्प्राप्ति

जिस पद या पदार्थ को विविध सूत्र में अनुवृत्ति के द्वारा प्राप्त करना सम्भव नहीं था उसे पाणिनि ने परिभाषा सूत्रों की सहायता से प्राप्त करवाया है। परिभाषा सूत्र भी संज्ञा सूत्रों की तरह अपने उपदिष्ट स्थान पर रहते हुए विधि सूत्र के क्षेत्र में दीपप्रकाश की तरह उपस्थित हो जाते हैं। जैसे 'इकःयण् अचि' (अ. ६.१.७७) सूत्र में दो परिभाषा सूत्र तस्मिन्निति निर्दिष्ट पूर्वस्य (अ. १.१.६६) तथा पष्ठीस्थानेयोगा (अ. १.१.४९) से क्रमशः 'निर्दिष्टे पूर्वस्य' तथा 'स्थाने' पदों का लाभ होकर एक-वाक्यता में यह सूत्र का रूप बन जाता है। 'इकःस्थाने यण् अचि निर्दिष्टे पूर्वस्य' इसमें क्रिया पद का अध्याहार करने पर यह असंदिग्ध वाक्य के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

२.१. सूत्र संख्या लाघवार्थ प्रयुक्त विधियों में तीन विधियाँ प्रमुख हैं–

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१. उत्सर्गापवाद विधि– इस विधि में सूत्र के सामान्य प्रवृत्ति हेतु उत्सर्गसूत्र तथा विशेष प्रवृत्ति हेतु अपवाद सूत्र का व्याख्यान किया गया है ।

इस विधि के द्वारा पृथक् पृथक् सूत्रों का निर्माण नहीं करना पड़ता है । यही पाणिनि का अमोघ अस्त्र है जिससे उन्होंने महती लाघवता को प्राप्त किया है । भट्टोजि दीक्षित" के अनुसार यह लिपि की तरह है । जैसे लिपि में कुछ ही वर्ण रहते हैं पर वे सम्पूर्ण भाषा को व्यक्त करने में समर्थ होते हैं, वैसे ही सामान्य तथा विशेष के आधार पर लक्षण निर्माण से महान् लाघव प्राप्त किया जाता है । इस पद्धति में जाति या आकृति एवं व्यक्ति के आधार पर सूत्र निर्माण किये जाते हैं । जैसे, अपत्यार्थ के लिए अण् प्रत्यय सामान्य प्रतिपादिक से किया तब हमें सामान्य प्रातिपदिकों की सूची नहीं देनी पड़ी, अतः बहुत बड़ा लाघव इस तस्यापत्यम् (अ. ४.१.९२) सूत्र में हुआ । अब केवल हम उन विशेष प्रातिपदिकों की ओर ध्यान आकृष्ट करेंगे जहाँ अण् न होकर अन्य प्रत्यय हो रहा हो । इसका अपवाद सूत्र है अत इञ् (अ. ४.१.९५)। इस सूत्र से अकारान्त प्रातिपदिक से अपत्य-अर्थ में इञ प्रत्यय होता है । यदि इस का भी अपवाद अगर मिले तो उसे भी एक सूत्र के रूप में कहा जायेगा । जैसे गर्गादिभ्यो यञ् (अष्टा. ४.१.१०५)। सूत्रकार ने इस उत्सर्गापवाद शैली के कारण अत्यन्त शास्त्र लाघव को प्राप्त किया है ।

२.२ असिद्धत्व विधान– महर्षि पाणिनि ने अपने पूर्वत्रासिद्धम् (अ. ७.२.१) सूत्र के द्वारा कुछ सूत्रों को असिद्ध माना है । इसका कारण यह है कि शब्दों की संरचना अनियत प्रवृत्ति वाली (अपवादयुक्त) होने के कारण नियमों में अन्तर्विरोध प्राप्त होता है तब आचार्य अन्तर्विरोध समाप्ति हेतु कुछ सूत्रों को बलहीन मानते हैं और उन्हें वे असिद्ध कहते हैं । इस असिद्धत्व को हम इस तरह समझें कि असिद्ध के सूत्र के अन्तर्विरोधरहित क्षेत्रों में चरितार्थ होने पर भी सिद्ध सूत्र वहाँ नहीं लग सकते हैं, क्योंकि असिद्ध सूत्र के कार्य को वे नहीं जानते हैं । अतः सूत्रों की अनभीष्ट प्रवृत्ति से बचने के हेतु कुछ विशेष सूत्रों को त्रिपादी आदि में पढ़ा गया है । अगर उन्हें असिद्ध न किया जाये तथा सामान्य पद्धति से शास्त्र-निर्माण हो तो हजारों निषेध सूत्रों की आवश्यकता होगी । क्योंकि असिद्ध विधान की विशेष पद्धति का वरण करके जिन-जिन सूत्रों का एक साथ ही निषेध हो जाता है उनके लिए पृथक्-पृथक् निषेध सूत्र निर्माण की आवश्यकता होगी । अतः यह शास्त्र-प्रक्रिया में लाघवार्थ लिया गया है ।

२.३. गणपाठ एवं धातुपाठ– पाणिनि सूत्रों में लाघव में परिशिष्ट धातु पाठ तथा गणपाठ का महत्त्वपूर्ण अवदान है । वस्तुतः ये धातु तथा शब्दों के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समुच्चय हैं, जिनमें धातु तथा शब्दों के समुदायों का संकलन किया गया है। इस शब्द-समुदायों के प्रथम शब्द के आधार पर शास्त्रोपयोगी भ्वादि, अदादि आदि अनेक लघु संज्ञायें निर्मित की गईं। उन संज्ञाओं के अवलम्बन से सामान्य विशेष सूत्रों के निर्माण में लाघव का साफल्य अर्जित किया गया है।

वस्तुतः पाणिनि का प्रत्येक सूत्र अपने आप में लाघवता का ज्वलन्त प्रमाण है। तथापि इस लेख में कुछ पद्धतियों का दिङ्निर्देश मात्र किया गया है। पाणिनि ने न केवल सूत्र अपितु प्रत्येक पद का प्रयोग अत्यावश्यक होने पर किया है। यह पतंजलि के इन शब्दों से स्पष्ट है– 'मांगलिक आचार्यःशुचौदेश उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयतिस्म, तत्र नैकोऽपि वर्णोऽनर्थकः किंपुनरियता सूत्रेण।' इसी तथ्य का अनुसरण नागेश की यह परिभाषा भी करती है, "अर्थमात्रलाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।" विशेषकर हम महर्षि के शुद्ध वैज्ञानिक आधार पर की गई इस शास्त्र रचना का गहनता से अध्ययन कर कुछ नवीन तथ्यों का उद्घाटन कर सकते हैं।

दर्शन विभाग (एस.ए.पी) राजेन्द्रप्रसाद शर्मा
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर–३०२००४
(राजस्थान)

टिप्पणियाँ

१. अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (*अष्टाध्यायी* ३.२.७५) अन्येष्वपि दृश्यते (*अ.* ३.२.१०१)
अन्येभ्योऽपिदृश्यते (*अष्टाध्यायी* ३.३.१३०) अन्येषामपि दृश्यते (*अष्टाध्यायी* ६.३.१३७)

२. तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् (*अष्टाध्यायी* । १.२.५३)
लुब्योगाप्रख्यानात् (*अष्टाध्यायी* १.२.५४)
योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात् (*अष्टाध्यायी* १.२.५६)
प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् (*अष्टाध्यायी* १.२.५६)
कालोपसर्जने तुल्यम् (*अष्टाध्यायी* १.२.५७)

३. *लघुसिद्धान्तकौमुदी* संज्ञा प्रकरणम्, हलन्त्यम् (१.३.३) के पश्चात्।

४. महाभाष्य, १.१.७ पृ. २६४

५. *वही*, २.४.१ पृ. ५५०

६. संज्ञा च नाम यतो न लघीयः। लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्, *महाभाष्य* १.४.३ पृ. २४२

७. 'लघुभूत उपायः समाश्रीयते लिपिवत्' *शब्द कौस्तुभ*, पृ. ६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मोक्ष तथा पापमोचन

साधारणतया धर्म, चाहे वह प्राचीन हो या आधुनिक, प्राच्य हो या पाश्चात्य, में मनुष्य को अपनी सत्ता के आधार से अलग या विछुड़ा माना गया है। मानव की सत्ता का आधार ईश्वर है। मानव अपने मूल स्रोत से अलग हो गया है, जिसके फलस्वरूप उसे दुःख भोगना पड़ता है। जब मानव अपने असीमित आधार या स्रोत से अलग हो जाता है तो सभी प्रकार की सीमाओं में आवद्ध हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसे अनेकानेक दुःख भोगना होता है। अब प्रश्न उठता है कि मानव क्यों अपने मूल स्रोत से अलग हो जाता है ? इस प्रश्न के मुख्य रूप से दो उत्तर दिये जा सकते हैं–

भारतीय दार्शनिकों के अनुसार अज्ञान या अविद्या के कारण हम अपने आधार से अलग हो जाते हैं। इस अवस्था का नाम वन्धन है। वन्धन दुःख की अवस्था है। भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा को नित्य माना है। आत्मा अपने स्वाभाविक स्वरूप में दुःख तकलीफ से परे है। पर अज्ञान के कारण उसे भौतिक शरीर से बन्ध जाना पड़ता है। शरीर से सम्बन्ध होने के बाद आत्मा का उससे तादात्म्य स्थापित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप शरीर के दुःख से वह दुःखी होता है तथा सुख से सुखी। नित्य और अजन्मा आत्मा अपने को शरीर से अलग नहीं समझती है। वह सांसारिक सुखों के प्रति इतना आसक्त रहती है कि तृष्णा का भाव बराबर बना रहता है। इससे वार-बार जन्म लेना पड़ता है। जन्म और पुनर्जन्म के चक्र में आत्मा अपना स्वरूप भूल जाती है और अपने मूल स्रोत से अलग हो जाती है।

पाश्चात्य धर्मों में मूल पाप की अवधारणा के द्वारा मानव जीवन में व्याप्त दुःखों की व्याख्या की जाती है। यहूदी धर्म और ईसाई धर्म में माना जाता है कि ईश्वर ने जब प्रथम मानव की रचना की तो उसका स्वरूप बिल्कुल शुद्ध और आनन्दमय था। प्रथम मानव "आदम" को ईश्वर ने पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की। प्रारम्भ में आदम ने ईश्वर-प्रदत्त इच्छा-स्वातंत्र्य का दुरुपयोग नहीं किया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और निषिद्ध कर्मों से अपने को वंचित रखा । अतः उसका स्वरूप आनन्दमय था । पर काल-क्रम में उसने निषिद्ध कर्मों से अपने को अलग नहीं रखा, जिसका परिणाम हुआ कि आदम को अपनी ही गलती के कारण दुःख भोगना पड़ा । अर्थात्, वह अपने ही पापों के कारण दुःख भोगने लगा और ईश्वर से विमुख हो गया । यही बन्धन या दुःख की अवस्था है ।

भारतीय धर्म परम्परा और यहूदी-ईसाई धर्म परम्मपरा में मानव को ही इस जगत् में व्याप्त अशुभ के लिए जबावदेह माना जाता है । यहूदी-ईसाई धर्म परम्परा के अनुसार मानव ने अपने इच्छा-स्वातंत्र्य का दुरुपयोग किया, जिसके फलस्वरूप दुःख का पदार्पण हुआ । दूसरी ओर बौद्ध धर्म में भी मानव को अपना भाग्यविधाता बताया गया है । पर प्रश्न है कि सर्वप्रथम अज्ञानवश कर्म का कौन विधाता है? बौद्ध धर्म में इस प्रश्न को सही प्रश्न नहीं समझा जाता है । यहाँ इस वास्तविकता को मान लिया जाता है कि मनुष्य सांसारिक चक्र में फंस कर दुःख भोगता है। इसलिए प्रश्न यह नहीं है कि कैसे सांसारिक दुःख च्रक प्राप्त हुआ, बल्कि यह कि कैसे इसका समाधान किया जाय । अतः बौद्ध धर्म में स्पष्टतया आदिम दुःख उत्पत्ति की समस्या की विवेचना नहीं की जाती है । अन्य भारतीय धर्म दर्शनों में कर्म संसार की समस्या को अनादि कह कर इस पर विचार नहीं किया गया है । मूल पाप या दुःख के कारण पर विचार नहीं किया जाता है । ईसाई धर्म, यहूदी धर्म में वर्णित मूल पाप के सिद्धान्त को मान लेता है । आदम ने जो पाप किया उसी पाप से उसकी सभी संतति ग्रसित है । हालाँकि कई यहूदी नवियों अब यह स्वीकारने लगे हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही पाप के लिए उत्तरदायी है, न कि जाति-पाप के लिए; यानी आदि पाप की धारणा अब अस्वीकृत होने लगी है ।

चाहे अनीश्वरवादी बौद्ध धर्म हो या फिर ईश्वरवादी ईसाई धर्म, उसके द्वारा यह स्वीकार कर लिया गया है कि मनुष्य अपने ही बुरे कर्मों का फल भोग रहा है । अब समस्या है कि बुरे कर्मों के कुप्रभाव की स्थिति, जो दुःखपूर्ण है, से किस प्रकार छुटकारा मिल सकता है? क्या मानव को अपनेही प्रयास से मुक्ति मिल सकती है? या ईश्वर की कृपा या गुरु की सलाह आवश्यक है? इस समस्या के समाधान करने के सिलसिले में बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म में मौलिक अन्तर है । पहले हम बौद्ध समाधान प्रस्तुत करेंगे और बाद में यहूदी-ईसाई समाधान ।

बौद्ध धर्म में प्रथम आर्य सत्य में बताया गया है कि सर्वत्र दुःख ही दुःख है तथा सब कुछ क्षणभंगुर है । हम इस दुःखमय और क्षणिक संसार को सुखमय और स्थायी समझते हैं । ऐसा अज्ञान या अविद्या के कारण होता है । अविद्या के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कारण क्षणिक सुख की कामना की जाती है, तथा अस्थायी वस्तुओं को स्थायी और शाश्वत मान लिया जाता है। फिर अहंभावना के कारण व्यक्ति अपने को भोक्ता मान लेता है। वह कहता है "मैं हूँ", "यह मेरा है" आदि। अहंभावना का निराकरण अविद्या के नाश से ही सम्भव है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जीवन और जगत् के प्रति गलत दृष्टि के फलस्वरूप ही हम बंधन में रहते हैं। अतः बौद्ध धर्म में दुःख निवारण के लिए बताए गए अष्टांगिक सोपान में सम्यक् दृष्टि प्रथम है। अविद्या के कारण ही मानव को क्षणिक वस्तुएँ शाश्वत और दुःखदायी वस्तुएँ सुखदायी नजर आती है। इस अविद्या को हटाने के लिए मिथ्या दृष्टि को त्याग कर सही दृष्टि को अपनाना होगा। सम्यक् दृष्टि का अर्थ ही है वस्तुओं को उसके वास्तविक स्वरूप में देखना। जब तक वस्तुओं को उनके वास्तविक स्वरूप में न देखें तब तक हम सही मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकते हैं। एक बालक अपनी अभिरुचि और दृष्टि के अनुकूल सभी वस्तुओं को खिलौना समझता है या कामी पुरुष अपनी प्रेरणा के अनुकूल सभी वस्तुओं को कामविषयक मानता है। ऐसा उसकी विशेष दृष्टि के कारण ही होता है। अतः निर्वाण-प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को वस्तुओं को क्षणिक तथा जीवन को दुःखमय समझना चाहिए।

सम्यक् संकल्प के अन्तर्गत आर्य सत्यों को जीवन में उतारने का पक्का निर्णय करना है। आसक्ति, द्वेष, हिंसा, घृणा आदि को त्यागना आवश्यक है। सम्यक् वाक् के अंतर्गत झूठ नहीं बोलना, निन्दा नहीं करना, कटु वचन से दूर रहना आदि आते है। यानी संकल्प को वचन में लाना आवश्यक है। सम्यक् कर्मान्त चौथा सोपान है। दैनिक जीवन के व्यवहार में आर्य सत्यों में बताए गए सिद्धान्तों को चरितार्थ करना चाहिए। अहिंसा, अस्तेय, इन्द्रिय-संयम आदि इस सोपान के अन्तर्गत सम्मिलित हैं। सम्यक् जीवन या जीवनयापन के लिए उचित साधन अपनाना चाहिए। गलत साधन का प्रयोग जीवन जीने के लिए नहीं करना चाहिए। सम्यक् व्यायाम-मस्तिष्क से बुरे विचारों को निकालना चाहिए तथा अच्छे विचारों को भरना चाहिए। बिना प्रयास के ऐसा सम्भव नहीं है। सम्यक् स्मृति में बताया गया है कि वस्तुओं के दुःखमय और क्षणभंगुर स्वरूप को याद रखना चाहिए। इनके बाह्य और अवास्तविक स्वरूप से मोहित नहीं होना चाहिए। अष्टांगिक मार्ग का अन्तिम सोपान सम्यक् समाधि है। ध्यान या समाधि में चार अवस्थाएँ हैं जिन्हें सफलतापूर्वक पार कर लेने के बाद निर्वाण की अवस्था की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्था में दुःख से पूर्ण छुटकारा मिल जाता है। निर्वाण दुःख-सुख, जन्म-पुनर्जन्म से पूर्ण छुटकारे की अवस्था है।

यहूदी-ईसाई-इस्लाम परम्परा में आत्मा की अमरता को स्वीकारा गया है। यहूदी धर्म में मरणोत्तर जीवन में विश्वास किया जाता है। पर यह विचार स्पष्ट

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं है । पर यहूदी साधारणतया यह स्वीकार करते हैं कि न्याय-दिवस के दिन प्रत्येक मनुष्य को उसके कर्म के अनुसार दंड या पुरस्कार मिलेगा । ऐसा मान जाता है कि मृत्यूपरान्त मानव शियोल में रहता है जहाँ उसकी शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं । पर न्याय-दिवस में सभी आत्माओं का पुनरुत्थान होता है और सभी आत्माएँ जी उठती हैं । ईसा मसीह भी न्याय-दिवस और पुनरुत्थान में विश्वास रखते थे । यही बात संत पॉल भी स्वीकार करते हैं । यहूदी शुद्ध आत्मा में विश्वास नहीं रखते थे, देहात्मवाद को मानते थे । न्याय-दिवस के दिन देह के साथ मानव की आत्मा का पुनरुत्थान होगा । इस मत से ईसाई धर्म भी प्रभावित है । संत पॉल के अनुसार न्याय-दिवस के अवसर पर तुरही फूँकी जायेगी और सभी मृतक का अपनी देह और आत्मा के साथ पुनरुत्थान हो जायेगा । पुनरुत्थान के समय जो शरीर प्राप्त होता है वह सांसारिक देह की तरह नश्वर नहीं, बल्कि अमर होगा । यह शरीर सुन्दर और स्वस्थ होगा । यहूदी और ईसाई धर्मों की तरह इस्लाम में पुनरुत्थान की बात कही गई है । न्याय-दिवस के दिन मृतमानव का शरीर और आत्मा दोनों का पुनरुत्थान हो जाता है । अर्थात् इन धर्मों में सदेही आत्मा की कल्पना की गई है । इस सन्दर्भ में यह याद रखना चाहिए कि हिन्दू धर्म और भारतीय दर्शनों में सदेही आत्मा की नहीं, बल्कि शुद्ध आत्मा की बात की गई है । जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाने के पश्चात् आत्मा को जब मोक्ष मिलता है तो शरीर का वहाँ नामोनिशान नहीं रहता है । अर्थात् सूक्ष्म शरीर भी मुक्त आत्मा के साथ नहीं रहता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय धर्म-दर्शन परम्परा में ही शुद्ध आत्मा की कल्पना की गई है ।

ईसाई धर्म में माना जाता है कि ईश्वर ने मानव को अपनी छवि में बनाया तथा उसे संकल्प स्वातंत्र्य प्रदान किया । पर मानव ने अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किया, जिससे पाप का उदय हुआ और जिसका फल उसें भोगना पड़ेगा । प्रथम मानव ने जो पाप किया उससे उसका स्वरूप ही पापमय हो गया, जिसका फल उसकी संतानों को भोगना पड़ रहा है । आज प्रत्येक मनुष्य उस आदि पाप से ग्रसित है यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आदम के द्वारा किए गए पापों के फल उसकी संतानों को क्यों भोगना पड़ता है ? एक मानव के द्वारा किए गए कर्मों का फल दूसरा क्यों भोगे ? इस संदर्भ में कुछ विद्वानों का मत उल्लेखनीय है। उनके अनुसार जो व्यक्ति जैसा करेगा उसे वैसा फल मिलेगा । अत: आदि पाप का अर्थ यह नहीं है कि आदम द्वारा किया गया पाप का फल समस्त मानव को भोगना पड़ रहा है । बल्कि आदि पाप की धारणा से अभिप्राय यह है कि मानव के अन्दर पापवृत्ति इतनी गहरी है कि वह अपने प्रयास से उससे निकल नहीं सकता है । फिर आदि पाप का अर्थ यह भी है कि मानव ने अपने बुरे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आचरण के द्वारा समाज, देश और धर्म व्यवस्था तक को इतना भ्रष्ट कर दिया है, कि ईश्वर का रूप भी विकृत हो गया है ।

अव प्रश्न है कि मानव पाप के दलदल से कैसे निकल सकता है ? ईसाई धर्म के अनुसार यीशु मसीह के क्रूशीय वलिदान के रहस्य में विश्वास करने से मानव में पाप से मुक्ति की शक्ति आती है, ईसा की क्रूशीय मृत्यु को आदि-पाप से मानव को छुटकारा दिलाने के लिए आत्म-वलिदान के रूप में समझना चाहिए । यहूदी धर्म में मानव को उसके पापों से छुटकारा दिलाने के लिए पशु-वलि चढाते थे । निर्दोष पशु की वलि से मानव के पाप कट जाते हैं । ऐसा माना जाता है कि निर्दोष पशु मानव के पापों को अपने ऊपर ले लेता है । इस यहूदी मत से प्रभावित हो कर ईसाई धर्म में यह माना जाता है कि ईसा ने अपना क्रूशीय वलिदान कर मानव को उसके आदि-पापों से मुक्त कर दिया। चूंकि ईसा का स्वरूप भी पवित्र मेमना जैसा शुद्ध था इसलिए उनके वलिदान से समस्त मानव जाति पाप से मुक्त हो जाती है । इस वलिदान को स्वयं ईश्वर ने तैयार किया था । अत: समस्त मानव जाति को इसे अपने पापों के प्रायश्चित्त के रूप में स्वीकार करना चाहिए । ईश्वर मानव को इतना प्यार करता है कि उसने अपने इकलौते पुत्र को बलिदान के रूप में भेजा ताकि जो उसमें विश्वास करें उसे मुक्ति मिल सके । इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव अपने पापों के द्वारा अपने को ईश्वर से कितना दूर क्यों न ले गया हो, पर ईश्वर अपने करुणामय स्वरूप के कारण उसे क्षमा करने को तैयार है । यीशु के बलिदान के द्वारा ईश्वर ने मानव को उसके पापों से मुक्त कर दिया । मनुष्य इस तथ्य में विश्वास करें। ईश्वर की कृपा ही उसे पाप मुक्त कर सकती है । अपने प्रयासों से वह पापमुक्त नहीं हो सकता है । पापमोचन ईश्वर का अनुग्रह है । धर्म की तरह ही यहूदी और इस्लाम धर्मों में यह माना गया है कि ईश्वर कृपा ही मानव की मोक्ष प्राप्त कराने में सक्षम है ।

मानव अपने पापमय स्वरूप के कारण ही ईश्वर से दूर हो जाता है और इस जगत् में उसका अस्तित्व दूपित और कष्टपूर्ण हो जाता है । अपने अस्तित्व के मूलाधार से उसका अलग होना उसके कष्टों का कारण है । चूँकि उसका स्वरूप ही पापमय एवं दूपित है, इसलिए अपने ही प्रयासों से मानव ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सका है । वह कितना भी प्रयास क्यों न करे, वह ईश्वर के सान्निध्य को प्राप्त नहीं कर सकता है । उसके पापाचरण का आवरण बराबर इस प्रयास में बाधक सिद्ध होता है । अत: ईसाई मसीहों का मत है कि मानव का वन्धन से छुटकारा पाने का प्रयास बराबर विफल होता रहता है । ईश्वर की करुणा और उसके प्रयास से ही पापमोचन सम्भव है । इसे एक उपमा के द्वारा हम समझ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकते हैं जो इस प्रकार है– नदी का बहाव साधारणतया अपने पुराने मार्ग से होता है। पर बाढ़ की अवस्था में कभी-कभी नदी की धारा अपना पुराना रास्ता छोड़ कर कुछ दूर तक नया रास्ता अपना लेती है और फिर आगे जाकर पुराने रास्ते को ही अपनाती है। इससे नदी का पुराना मार्ग झील में परिणत हो जाता है, क्योंकि नदी की धारा से कट जाने के बाद उसके पानी में प्रवाह नहीं रह जाता है। झील का अर्थ है नदी के प्रवाह से विलग होने की अवस्था। अब यह अवस्था तब तक कायम रहती है जब तक नदी की धारा फिर से झील और नदी के बीच के अवरोध को समाप्त नहीं कर दे। नदी के मुख्य प्रवाह से कटा झील तब तक मुख्य धारा से अलग रहता है जब तक नदी स्वतः ही दोनों के मध्य अवरोध को समाप्त नहीं कर दे। उसी प्रकार मानव तब तक अपने आधार से अलग रहता है जब तक ईश्वर खुद ही उसका पापमोचन नहीं करें। यानी पापमोचन ईश्वर का अनुग्रह है।

बौद्ध धर्म में निर्वाण ईश्वर का अनुग्रह नहीं है, बल्कि मानव के अपने प्रयासों का परिणाम। प्रत्येक मुमुक्षु अपने प्रयासों से अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करके निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है। मानव अपना भाग्यविधाता है। इस तरह हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म में यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्मों के प्रतिकूल ईश्वर कृपा का कोई स्थान है। इसे "मानवतावाद" की संज्ञा भी दी गई है, क्योंकि बुद्ध ने बताया है कि मानव अपने प्रयास के द्वारा दुःख से छुटकारा पा सकता है। निर्वाण प्राप्ति के लिए किसी शक्ति पर आश्रित नहीं रहना पड़ता है। बुद्ध ने कहा था "तुम स्वयं ही अपने लिए अपना प्रकाश बनो। बाह्य किसी शरण की सहायता मत लो। धर्म ही तुम्हारा दीप एवं शरण है"।

अब यदि हम ईसाई और बौद्ध मतों की तुलना करें तो पायेंगे कि बौद्ध मत अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। यह कहना कि मानव का अपना प्रयास निर्वाण प्राप्त नहीं करा सकता है उचित नहीं है। ईसाई धर्म में यह स्वीकार किया गया है कि मोक्ष ईश्वर के अनुग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और इसके लिए मानव प्रयास निरर्थक है। यदि यह माना जाय कि मानव के प्रयास से कुछ नहीं होता है तो फिर इससे अकर्मण्यता का जन्म होगा, कोई दुःख से छुटकारे के लिए प्रयास नहीं करेगा। हम हाथ पर हाथ धर के बैठे रहेंगे कि जब ईश्वर की कृपा होगी मोक्ष मिलेगा। अपने कर्मों को सुधारने का प्रयास नहीं करेंगे। वस्तुतः अपने प्रयास से मोक्ष मिलता है। जैसे एक सिंह यदि पिंजड़े में बन्द हो तो वह अपने अथक प्रयास से पिंजड़े के शिकंज़े से आज़ाद हो सकता है। या फिर कई बार स्वतन्त्रता सेनानियों ने भारत की आज़ादी के संग्राम में जेल तोड़ कर अपने को आजाद किया। उसी प्रकार मानव अपने अन्दर छिपी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अदम्य शक्ति से अज्ञान रूपी बंधन को काटकर निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है और संतप्त मानवता के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकता है। बोधिसत्व की अवधारणा बौद्ध धर्म में पाई जाती है। वे अर्हत् हैं जो अपनी निर्वाण गति को लोकहित में तब तक स्थगित कर लेते हैं जब तक अन्य जीवों को निर्वाण के प्रति अभिमुख नहीं कर दें। इन्हें पूर्ण ज्ञान तथा प्रज्ञा पा लेने पर भी अनेक जन्म इसलिए लेने पड़ते हैं कि दुःख संतप्त मानवों को दुःख निवृत्ति मार्ग बताये तथा लोक कल्याण में निरत रहें। फिर जब ईसाई धर्म में यह माना जाता है कि मानव अपने इच्छा-स्वातंत्र्य के दुरुपयोग से पापाचरण करता है तथा ईश्वर से विमुख होता है तब इसे स्वीकार करने में कोई असंगति नहीं है कि मानव ईश्वर प्रदत्त स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के सदुपयोग से अपने पापाचरणों के फल भोगने के बाद फिर से पापाचरण नहीं करे, तथा ईश्वर के सान्निध्य और सायुज्य प्राप्त करे। बौद्ध धर्म में वर्णित कर्म-फल सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मानव को अपने कर्म का फल भोगना पड़ता है। जब मनुष्य अज्ञान समाप्ति के उपरान्त अपने कर्म में सुधार लाता है तब धीरे-धीरे पहले किए गए कर्मों का फल नाश होता जाता है और नए कर्म आसक्तिविहीन और धर्मसम्मत होने के कारण बन्धन में नहीं डालते हैं, जिससे निर्वाण का मार्ग प्रशस्त होता है।

रेखा सिंह

१, व्याख्याता निवास
बिहार विश्वविद्यालय परिसर,
मुजफ्फरपुर–८४२००१
(बिहार)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२६)

कारणता

पूर्व लेख में कार्यता के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है। कार्यता और कारणता परस्पर सापेक्ष होने से उनमें परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। कारणता, जनकता, हेतुता ये पर्यायवाची शब्द हैं। कार्य-कारण-भाव का सिद्धान्त प्राय: सर्वत्र स्वीकार किया जाता है। नैय्यायिकों के मतानुसार संसार में जितने भी लौकिक और वैदिक कर्म या घटनाएँ हैं उनका उनके फल के साथ सम्बन्ध निश्चित कर के ही मनुष्यमात्र– या कहें प्राणिमात्र-उन-उन कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। कर्म और उसके फल के वीच होने वाले कार्य-कारण-भाव को जाने वगैर कोई भी व्यक्ति किसी भी कर्मानुष्ठान को संपन्न नहीं करता है। अत: यह सिद्ध है कि कार्य-कारण-भाव का सिद्धान्त यह एक सर्वव्यापक तथ्य है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कारणत्व या कारणता क्या है? कुछ नैयायिकों का मत है[1] कि कारणत्व माने तत् तत् फलाव्यवहितपूर्वसत्त्व है, अर्थात् विवक्षित फल के पूर्व में रहना ही कारण में रहने वाली कारणता है। परन्तु यह मत उचित नहीं है। क्योंकि अनेक पदार्थ विवक्षित फल के पूर्व विद्यमान होते हैं और कारणता के उक्त लक्षण के अनुसार उन सभी पदार्थों को विवक्षित फल का कारण मानना पड़ेगा। दूसरे, कई उदाहरणों में कारण विवक्षित फल के अव्यवहित पूर्व में नहीं भी रहता है ऐसा दिखायी देता है। फिर भी उनमें कारणता का व्यवहार होता है। जैसे, 'वृष्टि से सुभिक्ष होता है' यहाँ वृष्टि सुभिक्ष के अव्यवहित पूर्व में न हो कर भी वह सुभिक्ष का कारण कहलाती है। वैसे ही याग स्वर्ग के अव्यवहित पूर्व में विद्यमान न होने पर भी स्वर्ग का कारण माना जाता है। उसी प्रकार आकाश कार्यमात्र के अव्यवहित पूर्व में विद्यमान होने पर भी उसे हरेक कार्य का कारण नहीं माना जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त लक्षण अव्याप्त तथा अतिव्याप्त दोनों ही रूप में प्रस्तुत हो जाने से स्वीकार्य नहीं हो सकता।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तदभाव प्रयोजकीभूताभाव प्रतियोगित्व[१] माने उस विवक्षित वस्तु के अभाव के लिये प्रयोजक होने वाले अभाव का प्रतियोगी होना भी कारणता का स्वरूप है ऐसा कुछ मानते हैं । जैसे, सुभिक्ष के अभाव का प्रयोजन है वृष्टि का अभाव। अतः उस अभाव की प्रतियोगी वृष्टि सुभिक्ष का कारण है । परन्तु यह लक्षण भी दोपरहित नहीं है । कारणता का ऐसा स्वरूप मानने पर घट के उत्पादक संयोग का कारण घट है ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा । क्योंकि घट के उत्पादक संयोगाभाव का व्यापक (प्रयोजक) अभाव घट का अभाव भी है । और उसका प्रतियोगी घट होने से घट स्वयं घट के उत्पादक संयोग का कारण बन जायेगा ।

कुछ नैयायिक कारणता माने कारण का कार्य के साथ होने वाला विशेष प्रकार का स्वरूप सम्बन्ध मानते हैं ।[२] इस मत में कोई भी संबंध दो संबंधियों से निरूप्य होने से कारणता कार्य और कारण इन दोनों से ही निरूप्य (प्रदर्श्य) होती है । परंतु कारणता को स्वरूप संबंध का एक प्रकार मानने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है । दूसरी बात यह है कि यह स्वरूप सम्बन्ध कारण-स्वरूप है या कारणतावच्छेदक धर्म-स्वरूप है यह भी एक प्रश्न उपस्थित होता है । यदि वह कारण-स्वरूप हो तो वस्तु (दण्ड) आदि का ज्ञान होते ही उस में (घट की) कारणता का ज्ञान होना चाहिये । उसी प्रकार कारणता कारणतावच्छेदक दण्डत्व-स्वरूप हो तो दण्डत्व का ज्ञान होते ही दण्ड में घट-कारणता का ज्ञान होना चाहिये। कारणता को कारण-स्वरूप मानने पर 'दण्ड कारण है'' यह व्यवहार नहीं होना चाहिये, क्योंकि दण्ड और कारणता एक होने से "दण्ड कारण है" इसका अर्थ होगा "दण्ड दण्ड है" और "दण्ड दण्ड है" ऐसा प्रयोग कहीं भी कभी भी सार्थकतया नहीं होता है ।

प्राचीन नैयायिकों के अनुसार अन्यथासिद्ध से भिन्न नियतपूर्ववृत्तिजातीय होना ही कारणता है ।[४] जैसे, दण्डमात्र घट के पूर्व नियम से रहता है तथा वह अन्यथासिद्ध से भिन्न होने से घट का कारण माना जाता है । जिस धर्म से जो वस्तु जिस कार्य की पूर्ववृत्ति मालूम पडती है वह धर्म उस कार्य की दृष्टि से अन्यथासिद्ध होता है । जैसे, घट-स्वरूप कार्य के लिये दण्ड में रहने वाला दण्डत्व धर्म अन्यथासिद्ध है । क्योंकि दण्ड दण्डत्व धर्म से नियमित हो कर घट का कारण होता है । उसी प्रकार इतर कारण के साथ जिस रूप (धर्म) से युक्त (पदार्थ) जिस कार्य के पूर्व में विद्यमान रहता है उस (रूप-धर्म) से युक्त पदार्थ उस के कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है । उसी प्रकार गदाधर के मत में[५] दण्डसमवहित चक्रत्वावच्छिन्न चक्र भी द्वितीय अन्यथासिद्ध है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यहाँ यह ध्यातव्य है कि विश्वनाथ पंचानन ने' घट के लिये दण्ड-रूप को ही द्वितीय अन्यथासिद्ध माना है, दण्डसमवहित चक्र को नहीं माना है। चक्र घट के लिये दण्ड के समान ही स्वतन्त्र कारण है। जब कि गदाधर चक्र को दण्डसमवहित के रूप में नियतपूर्व में विद्यमान मान कर उसे अन्यथासिद्ध मानते हैं।

दूसरे किसी पदार्थ के पूर्व में विद्यमानता का ज्ञान होने पर ही जिस धर्म से युक्त पदार्थ प्रकृत कार्य के पूर्व में विद्यमान के रूप में ज्ञात होता है वह उस कार्य के लिये तृतीय अन्यथासिद्ध माना जाता है।[७] जैसे, ज्ञान आदि के लिये आकाश। क्योंकि आकाश की शब्द के समवायि कारण के रूप में स्थापना होने पर ही ज्ञान आदि के पूर्व में उसकी विद्यमानता अवगत होती है। ज्ञान का पूर्ववर्ति होने के लिये आकाश को पहले शब्द का पूर्ववर्ति होना पड़ता है। चूंकि शब्द की उत्पत्ति सर्वत्र होने से आकाश सर्वव्याप्त है, अतः वह ज्ञानादि का भी पूर्ववर्ति है। उसी प्रकार घट के लिये कुम्हार का पिता भी अन्यथासिद्ध है। कुम्हार का पिता कुम्हार का पूर्ववर्ति होने से घटका पूर्ववर्ति है। अतः घट का पूर्ववर्ति होने के लिये उसे पहले कुम्हार के पूर्व में रहना आवश्यक है। अतः कुलाल का पिता घट के लिये तृतीय अन्यथासिद्ध है।

विश्वनाथ पंचानन ने कुलाल के पिता को चतुर्थ अन्यथासिद्ध के रूप में प्रस्तुत किया है।[८] उनके मतानुसार जिस कार्य के जनक के पूर्व में जो रहता है वह उस कार्य के लिये अन्यथासिद्ध है। कुलाल घट कार्य का जनक होने से कुलाल का पिता घट कार्य के जनक कुलाल के पूर्व में रहने से घट के पूर्व में रहता है। अतः वह घट की दृष्टि से अन्यथासिद्ध है।

यहाँ एक बात यह ध्यातव्य है कि याग अपूर्व का पूर्ववृत्ति हो कर ही स्वर्गादि का पूर्ववृत्ति होने पर भी अन्यथासिद्ध नहीं है। कारण याग अपूर्व के पूर्ववृत्ति के ग्रहण के बिना ही स्वर्गादि पूर्ववृत्ति का ग्रहण होता है। अपूर्व यह याग से जन्य व्यापार होने से व्यापारेण व्यापारिणो नान्यथासिद्धिः के नियमानुसार वह अन्यथासिद्ध नहीं है। परन्तु कुम्भकार का पिता कुम्भकार का जनक (व्यापारक) होने पर भी अन्यथासिद्ध ही है। अवश्यतया स्वीकृत नियतपूर्ववृत्ति पदार्थ के रहने से ही कार्य उत्पन्न होता है। उसके साथ रहने वाला जो भी हो वह उस कार्य की दृष्टि से वहाँ अन्यथासिद्ध होता है। जैसे, पाकज गन्ध के लिये रूप का प्रागभाव अन्यथासिद्ध है। वह चतुर्थ प्रकार का अन्यथासिद्ध है। क्योंकि जहाँ पाकज गन्ध के प्रागभाव का अभाव है तथा रूप का प्रागभाव है वहाँ सुरभि और असुरभि गन्धयुक्त अवयवों से उत्पन्न घट में गन्धोत्पति के लिये नियतपूर्ववृत्ति-रूप प्रागभाव को कारण न मान कर अन्यथासिद्ध ही मानना पड़ेगा। क्योंकि पाकज

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गन्ध के अवश्यरूप से स्वीकृत नियतपूर्ववृत्ति अग्नि-संयोग है और उसी में कार्योत्पादकता सिद्ध होती है, नियतपूर्ववृत्ति-रूप प्रागभाव में नहीं ।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि विश्वनाथ पंचानन ने[१०] 'अवश्यक्लृप्त' यह लक्षण पंचम अन्यथासिद्ध का बताया है । जब कि गदाधर पंचम अन्यथासिद्ध का ऐसा लक्षण करते हैं कि प्रकृत कार्य के लिये जिस धर्म का गुरुभूत होने वाला व्याप्यधर्म कारणता का अवच्छेदक होता हो उस धर्म से अवच्छिन्न (पदार्थ) प्रकृत कार्य की दृष्टि से अन्यथासिद्ध होता है ।[११] जैसे, घट की दृष्टि से द्रव्यत्वावच्छिन्न (पदार्थ) घट आदि प्रकृत कार्य की जो कारणता है उसका अवच्छेदक धर्म दण्डत्व आदि हैं । दण्डत्व यह द्रव्यत्व-व्याप्त-धर्म है । अतः कारणतावच्छेदक दण्डत्व द्रव्यत्व-व्याप्य होने से द्रव्यत्वावच्छिन्न (द्रव्य) अनन्यथासिद्ध है, जब कि वही दण्ड दण्डत्वावच्छिन्न के रूप में घट का कारण है ।

वास्तविक रूप से देखा जाय तो नियतपूर्ववृत्तिता के नियामक जिस धर्म से युक्त के लिये जिस कार्य की दृष्टि से कारणता का व्यवहार नहीं होता है उस धर्म से युक्त वस्तु उस कार्य के लिये अन्यथासिद्ध होती है ।[१२] इसलिये शब्द के पूर्व में विद्यमानता का बोध न होने पर भी शब्द के समवायिकारण आकाश में ज्ञान आदि वस्तुओं की पूर्ववृत्तिता गृहीत होने पर आकाश अन्यथासिद्ध होता है । उसी तरह पूर्वसंयोग के नाश की पूर्ववृत्तिता का ज्ञान न होने पर भी विभाग में उत्तरसंयोग की पूर्ववृत्तिता का ज्ञान होने पर विभाग उत्तरसंयोग की दृष्टि से अन्यथासिद्ध ही है । घट-निर्माण की प्रक्रिया के अनुसार कपाल (घट का अर्धभाग) द्वय के संयोग से घट उत्पन्न होता है । सब से पहले कपाल में क्रिया उत्पन्न होती है । उसके बाद क्रिया से पूर्वस्थान से कपाल का विभाग होता है । उसके पश्चात् पूर्वसंयोग का नाश होता है । पूर्वसंयोग के नाश के बाद उत्तर-संयोग (कपालद्वय का संयोग) होता है । तब घट उत्पन्न होता है ।

यही कारण है कि लघुधर्म से समनियत गुरुधर्म से युक्त कारण नहीं होता[१३], क्योंकि उसमें प्रामाणिकों का कारणत्व व्यवहार नहीं है । कोई भी प्रामाणिक व्यक्ति प्रमेय दण्ड को घट का कारण नहीं मानता है । प्रमेय दण्डत्व से दण्डत्व लघुधर्म है । अतः वह दण्डत्वावच्छिन्न (दण्ड) घट का कारण है, प्रमेय दण्डत्वावच्छिन्न (दण्ड) नहीं । प्रमेय दण्डत्वावच्छिन्न (दण्ड) अन्यथासिद्ध है । उसी प्रकार प्रतिबन्धकाभाव भी तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न के रूप में कारण नहीं गिना जा सकता । प्रतिबन्धकाभाव कार्यमात्र के लिये प्रतिबन्धकाभाव के रूप में ही कारण होता है, तद्व्यक्ति के रूप में नहीं । तद्व्यक्ति में कारणता का व्यवहार न होने से तद्व्यक्तित्वावच्छिन्न के रूप में वह अन्यथासिद्ध है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक ही वस्तु किसी रूप से कारण होती है तो दूसरे रूप से अन्यथासिद्ध होती है । इसलिये 'अन्यथासिद्ध से भिन्न' यह विशेषण कारणता के लक्षण में लगाना उचित नहीं है ।[१४] अपितु जिस रूप से कुछ (वस्तु) अन्यथासिद्ध है उससे अन्य रूप से युक्त होना ही कारण का स्वरूप है । नियतपूर्ववृत्ति का अर्थ है नियतपूर्ववृत्तिजातीय होना । क्योंकि अतीत, अनागत ऐसा अरण्यस्थ दण्ड भी घट का नियत पूर्ववृत्ति न होने पर भी नियतपूर्ववृत्ति वर्तमान दण्ड का सजातीय होने से उसमें भी स्वरूपयोग्यता-रूप कारणता रहती है । अतः अन्यथासिद्ध्यनिरूपक नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक तद्धर्मवत्त्व'[१५] अर्थात् अन्यथासिद्धि को प्रदर्शित न करने वाली नियतपूर्ववृत्तिता-रूप नियामक धर्म में कारणता है । उस नियामक धर्म से युक्त जो कुछ हो वह कारण कहलाता है ।

लेकिन उक्त लक्षण में प्रविष्ट 'नियतपूर्ववृत्ति' शब्द का क्या अर्थ है ? उसका कार्य के ठीक पूर्व (अव्यवहित) काल में रहना ऐसा अर्थ करने पर स्वर्ग के लिये याग कारण नहीं होगा । क्योंकि स्वर्ग के ठीक पूर्वक्षण में याग नहीं रहता है । याग की क्रिया स्वर्ग के कई क्षणों के पूर्व में ही घटित हो चुकी होती है । यदि कालिक या व्यापार इन दोनों में से किसी एक सम्बन्ध से कार्य के ठीक पूर्वक्षण में रहना ऐसा अगर 'नियतपूर्ववृत्ति' का अर्थ करें तो उक्त दोष का परिमार्जन हो जाता है । क्योंकि याग स्वर्ग के ठीक पूर्वक्षण में कालिक सम्बन्ध से न रहने पर भी अदृष्ट-रूपी व्यापार सम्बन्ध से स्वर्ग के ठीक पूर्वक्षण में रहता है । परन्तु ऐसा कहने पर विशिष्टबुद्धि और विशेषण-ज्ञान में जो कार्यकारणभाव है उसका विशिष्ट-स्मृति में व्यभिचार होने पर विशिष्ट अनुभव के लिये विशेषण-ज्ञान को कारण मान कर उत्पन्न होने वाले व्यभिचार का निराकरण अप्रामाणिक हो जायगा । कालिक और व्यापार अन्यतर (इन दोनों में से एक) सम्बन्ध ठीक पूर्वकाल में वृत्ति है ऐसा कहने पर उक्त कार्यकारण-भाव का स्मृति में व्यभिचार नहीं होता । अनुभवात्मक विशिष्ट ज्ञान के ठीक पूर्वक्षण में विशेषण-ज्ञान कालिक सम्बन्ध से तथा स्मृत्यात्मक विशिष्ट-ज्ञान के ठीक पूर्व में विशेषण-ज्ञान संस्कार-रूप व्यापार सम्बन्ध से रहता है । अतः विशेषण-ज्ञान की विशिष्ट-स्मृति का भी कारण उक्त दोनों में स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है ।

परन्तु उक्त अन्यतर सम्बन्ध से अव्यवहित (ठीक) पूर्ववृत्तिता का कारणता के लक्षण में समावेश करने पर तन्तु एवं तन्तु-संयोग को भी घट का कारण मानना पड़ेगा, क्योंकि तन्तु भी स्थानविशेष से घट के ठीक पूर्व में विद्यमान हो सकता है । अतः कार्य के ठीक पूर्व (अव्यवहित) क्षण में कार्य के आश्रय में रहने वाले अभाव का प्रतियोगी जो न हो वह कारण है ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा।[१६] उदाहरण के लिये घट के ठीक पूर्वक्षण में दण्ड का अभाव नहीं रहता है तन्तु

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आदि का अभाव रहता है । अतः उस अभाव का प्रतियोगी तन्तु घट का कारण नहीं है । उस अभाव का अप्रतियोगी दण्ड ही घट का कारण है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ।

वैसे ही कारण के लक्षण में 'कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में' इस अंश का समावेश न करने पर घट के आश्रय कपाल (अर्धभाग) में कपाल की उत्पत्ति के काल में घट की उत्पत्ति के लिये कारणीभूत कपालद्वय के संयोग का अभाव रहता है (क्योंकि नियम यह है कि 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं एकं अगुणं निष्क्रियं च तिष्ठति' ।) उस अभाव का प्रतियोगी उक्त संयोग होने से वह घट का कारण नहीं होगा ।[१७] 'कार्य के ठीक पूर्व में' इस अंश का समावेश उक्त लक्षण में करने पर कपाल की उत्पत्ति के काल में न रहने वाला संयोग घट की उत्पत्ति के ठीक पूर्वक्षण में कपाल में रहता है । अतः वहाँ (कपाल में) उसका अभाव नहीं है । तथापि वहाँ (कपाल में) जल आदि जिसका अभाव है उसका अप्रतियोगी कपालद्वय का संयोग होता है । अतः वह घट का कारण होता है ।

दर्शन विभाग, बलिराम शुक्ल
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे–४११ ००७

टिप्पणियाँ

१. उदयन; पूर्वाभावो हि हेतुत्वम् । *न्यायकुसुमाञ्जल्याम्*

२. जगदीश; *कारणतावादे*

३. स हि स्वरूपसम्बन्धविशेषो न कारणस्वरूपः तदवच्छेदकीभूत धर्मस्वभावो वा ?–*वहीं*

४. हरिदासी; व्यतिरेकत्वं न कारणत्वं किन्त्वन्यथासिद्ध-नियतपूर्वभावः । न्यायकुसुमाञ्जल्याः टीकायाम्

५. गदाधर; यथा घटादिकं प्रति दण्डरूपत्वाद्यवच्छिन्नम् दण्डसमवहित चक्रत्वाद्यवच्छिन्नञ्च । *कारणतावादे*

६. *न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्याम्*, प्रत्यक्षखण्डे

७. गदाधर; अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञान एव यद्रूपावच्छिन्नस्य प्रकृतकार्यं प्रति पूर्ववृत्तिताग्रहस्तद्रूपावच्छिन्नं तत्कार्यं प्रति अनन्यथासिद्धम्, यथा ज्ञानादिकं प्रति आकाशत्वाद्यवच्छिन्नम् । *कारणतावादे*

८. *न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यां*, प्रत्यक्षखण्डे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

९. गदाधर; अपूर्वादि पूर्ववृत्तित्वमगृहीत्वापि यागत्वाद्यवच्छिन्ने स्वर्गादि पूर्ववृत्तित्वग्रहसम्भवादपूर्वद्वारा न यागत्वाद्यवच्छिन्नस्य स्वर्गादि कार्यं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम। एतादृशस्थल एव व्यापारेण व्यापारिणो नान्यथासिद्धिः । *कारणतावादे*

१०. *न्यायसिद्धन्तमुक्तावल्याम्*, प्रत्यक्षखण्डे

११. गदाधर; प्रकृतकार्यं प्रति यद्धर्मव्याप्यधर्मस्यागुरोः कारणतावच्छेदकत्व संभवस्तदवच्छिन्नञ्च प्रकृतकार्ये अन्यथासिद्धम् । *कारणतावादे*

१२. *वहीं*

१३. अत एव लघुधर्मसमनियतगुरूधर्मावच्छिन्नस्य प्रतिबन्धकाभावनिष्ठ तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नस्य च न कारणत्वम् । *तत्रैव*

१४. एकस्यैव केनचिद्रूपेणान्यथासिद्धत्वात् रूपान्तरेण जनकत्वाच्च अन्यथासिद्धान्यत्वेन न कारणं विशेषण-निष्ठम् । *तत्रैव*

१५. तथाचान्यथासिद्धच निरूपक नियतपूर्ववृत्तितावच्छेदक तद्धर्मवत्वं तद्धर्मपुरस्कारेण कारणत्वमिति समुदायार्थः । *तत्रैव*

१६. *वहीं*

१७. *वहीं*

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY

PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad , Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिक्रियायें

- १ -

परामर्श (हिन्दी) खण्ड १४, अंक ३, जून १९९३ में प्रकाशित लेख "पारम्परिक भारतीय मूल्य प्रणाली में नैतिक मूल्य और उसकी प्रासंगिकता" वैचारिक दासता में जकड़े भारतीय समाज में स्वातंत्र्य के लिए बौद्धिक आकुलता की एक सुंदर अभिव्यक्ति है। बौद्धिक आकुलता के इस प्रवाह में आत्मगौरव (अपनी संस्कृति के प्रति) होना श्लाघ्य तो है लेकिन वैचारिक दासता से मुक्ति की आकुलता को दृढसंकल्प में परिवर्तित करने की लिए दासता का मूलान्वेषण कार्य धैर्यपूर्वक होना चाहिए। आतुरता में निष्कर्ष सतही भी हो सकते हैं। लेख में कतिपय ऐसे स्थल हैं, जहाँ और अधिक स्पष्टता, और विस्तार अपेक्षित है। कुछ ऐसे स्थलों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

१. पृष्ठ २१६ के द्वितीय पैराग्राफ में लिखा है "आध्यात्मिक संस्कृति होने के कारण यहाँ आत्म से अनात्म को गौण माना गया, जबकि भौतिकवादी संस्कृति में भौतिक जगत् को अधिक महत्त्व दिया जाता है। "यहाँ 'गौण' और 'अधिक' शब्द व्याख्यापेक्षी हैं। 'गौण" शब्द की अस्पष्ट सी व्याख्या अगले वाक्य में है– "भारत में सम्पूर्ण विश्व का केन्द्र आत्मा को स्वीकार करने के कारण उसी की अनुभूति या प्राप्ति को जीवन की सफलता और पूर्णता माना गया है।" भारत की आध्यात्मिक संस्कृति का यह चित्र स्पष्टतः पूर्ण नहीं है। भारतीय संस्कृति में अनात्म को गौण माना गया है– ऐसा निष्कर्ष उचित नहीं है। आत्मा 'साध्य' माना जाने से यह संस्कृति आध्यात्मिक है, लेकिन साधन तो अनात्म ही है। अनात्म की उपस्थिति और उसके माध्यम से ही आत्मा साध्य है– अन्यथा नहीं। साध्य और साधन समकक्ष नहीं होते। अतः साधन को "गौण" तो नहीं कहा जा सकता। हाँ, आत्म-अनात्म दोनों यदि साध्य रूप में मान्य हों तब किसी को गौण, किसी को प्रधान कहा जा सकता है। भारतीय संस्कृति में अनात्म को गौण माना भी नहीं गया। पुरुषार्थ की स्वीकृति अनात्म से आत्म के घनिष्ठ संबंधों की स्वीकृति ही है। हाँ, बौद्ध और शांकर परंपरा में अवश्य अनात्म

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को गौण माना जा सकता है, लेकिन भारतीय संस्कृति इनसे बहुत प्राचीन है। ("अनात्म" गौण है– ऐसा प्रचार भी वर्तमान भारतीय समाज में परिलक्षित मूल्य विस्थापन का एक महत्त्वपूर्ण कारण है।) फिर "अंधं तमः प्रविशन्ति "...की चेतावणी, "विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह" का उपदेश, वेदों में हर प्रकार की शक्ति की कामना-याचना वाले मंत्र तथा *गीता* का कर्मयोग; ये सब भी भारतीय संस्कृति के स्वरूप निर्धारक है। फिर सर्वंखल्विदं ब्रह्म का घोष अनात्म की गौणता का नहीं, महत्ता का संकेत करता है। सांख्यमत में प्रकृति पुरुष विवेक की अनिवार्यता स्वीकार की गई है, केवल पुरुष ज्ञान की नहीं। ये सब भारतीय संस्कृति के ही निर्भ्रान्त तत्त्व हैं। अनात्म की महत्ता तो इतनी है कि उसे समझे बिना उससे मुक्त ही नहीं हुआ जा सकता।

२. पृष्ठ २२५ तीसरे पैराग्राफ में लिखा है– "पारम्परिक मूल्य प्रणाली के विस्थापन की प्रक्रिया में जिन घटकों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, उनमें से प्रथम है पराधीन भारत पर थोपी गई शिक्षा पद्धति"।

क्या इस तरह के निष्कर्ष तक पहुँचने से पूर्व एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना आवश्यक नहीं था? सैकड़ों शताब्दियां तक अनेक ऋषियों-मनीषियां के गंभीर चिंतन और अनुभव से स्थापित मूल्य मात्र १००-१५० वर्षों के प्रयासों से विस्थापित हो गए? यदि यह सत्य है तो, क्यों उक्त मूल्य प्रणाली को समृद्ध कहा जाए? आधुनिक भारत के वैचारिक दारिद्र्य का ही नहीं, अधिकांश महत्त्वपूर्ण समस्याओं का कारण ब्रिटिश प्रणाली और नीतियों पर ड़ाल देने की भारत में प्रथा हो गई है। वर्षों से पल्लवित संस्कृत्याधारित समृद्ध मूल्य प्रणाली थोड़े से लोगों द्वारा अल्पावधि में विस्थापित हो गई– ऐसा निष्कर्ष क्या संतोषप्रद है? हमारी मूल्यांकन प्रक्रिया में कहीं कोई गंभीर दोष है जिसने हमारे मूल्यबोध को विकृत और अशक्त कर दिया है। ब्रिटिश या यूरोपीय विचारों ने तो मात्र ढ़ांचे को ढ़हाने का कार्य किया है। हमारी मूल्यांकन प्रक्रिया का वह दोष कहाँ है, क्या है– यह विचारणीय है। तब ही आयातित मूल्य प्रणाली के वशीभूत होने का कारण स्पष्ट होगा। मेरे विचार में– संसार को केवल दुःखमय मानना, मिथ्या अनर्थकारी और फलतः त्याज्य मानना, आत्मा-परामात्मा में अभेद मानना, अहिंसा के सिद्धांत के अतिप्रचार, आदि ने समाज की मूल्यदृष्टि को विकृत किया है। इस पर विस्तार से किसी स्वतंत्र लेख में अपने विचार प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। यहाँ केवल इतना ही वक्तव्य है कि ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली पर दोष मढ़ देना उचित नहीं है।

३. पृष्ठ २२६ पर लिखा है– "इस पश्चिमी सांस्कृतिक आक्रमण के कारण भारतीय समाज में दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ परिलक्षित हुईं। द्वितीय पूर्णतः अतीतोन्मुख

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो जाना अर्थात् अतीत का अंधानुकरण, जिसकी एक अभिव्यक्ति धार्मिक पुनरुत्थानवाद के रूप में हम सभी देख रहे हैं।"

उपर्युक्त वाक्यों को मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। 'पूर्णतः अतीत का अंधानुकरण' जैसा कुछ, किसी भी समाज में संभव नहीं होता। हम सदा वर्तमान में जीते हैं। इस वर्तमान का स्वरूप अतीत से घनिष्ठतापूर्वक संबंधित रहता। है अतीत के ऐसे तत्त्व जिनकी वर्तमान् प्रासंगिकता न हो, जीवंत समाज में स्वतः लुप्त हो जाते हैं। वर्तमान में 'अतीत' उतना ही और उसी रूप में जीवित रहता है जिसका महत्त्व हो। अतः 'पूर्णतः अतीत का अंधानुकरण' कथन ही उचित नहीं है। हाँ, लेख में यदि इस अंधानुकरण के कुछ उदाहरण होते तो उक्त कथन को समझा जा सकता है।

फिर अतीत के अंधानुकरण की एक अभिव्यक्ति "धार्मिक पुनरुत्थानवाद' के रूप में भारत में कहीं है, ऐसा कम से कम मुझे तो दिखाई नहीं पड़ता। यदि स्पष्ट संकेत किया जाता तो समझने में सुविधा होती।

बी. कामेश्वर राव

दर्शन विभाग,
पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय,
रायपुर–४९२०१०
(म. प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY

PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पारम्परिक भारतीय मूल्य-प्रणाली में नैतिक मूल्य और उनकी प्रासंगिकता : एक प्रतिक्रिया

– २ –

जून, ९३ के *परामर्श (हिन्दी)* में प्रकाशित प्रो. छाया राय का सुविचारित एवं सुव्यवस्थित लेख, मूल्यों के वर्तमान संक्रमणशील युग में कई दृष्टियों से विचार-विमर्श के योग्य है। यहाँ मैं केवल कुछ शंकायें व्यक्त करना चाहूँगा। मेरे विचार से भारतीय संस्कृति को आध्यात्मिक मानना भ्रामक है। एक तो आध्यात्मिक दर्शन प्रधान होने मात्र से कोई संस्कृति आध्यात्मिक नहीं हो जाती, क्योंकि उसमें दर्शन के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व भी समाहित होते हैं। दूसरे, भारतीय संस्कृति का अर्थ समझने के लिये जैन, बौद्ध, ईसाई एवं इस्लाम ग्रन्थों, परम्पराओं का भी अध्ययन आवश्यक है, केवल *उपनिषद्, गीता* या वेदान्त की आधुनिक परम्परा के अध्ययन से यह कार्य अधूरा ही रह जाएगा। तीसरे, लोक व्यवहार एवं मूल्यों के वास्तविक निष्पादन में सामाजिक परिस्थितियों का योगदान, दार्शनिक चिंतन से अधिक होता है। क्या आज हम चाहकर भी मध्ययुगीन, भोली-भाली आध्यात्मिकता का वरण कर सकते हैं ?

आधुनिक संदर्भ में यह प्रश्न निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है कि हमें नैतिक क्यों होना चाहिये ? इसके उत्तर के लिये डॉ. राय ने धर्म की जिस अवधारणा ("मनुष्य का धर्म मनुष्यत्व है" पृ. २१७) की ओर इंगित किया है वह कितना पारम्परिक दृष्टि से समर्थित है यह कहना कठिन है क्योंकि आज "धर्म" शब्द के इतने अर्थप्रयोग किये जा रहे हैं कि उसका कोई निश्चित स्वरूप नहीं रह गया है। यदि यह मान भी लिया जागे कि किसी वस्तु की 'विधायक आन्तरिक वृत्ति धर्म' है तो भी इससे यह सिद्ध कर पाना कठिन है कि मनुष्य की विधायक आन्तरिक वृत्ति (या वृत्तियाँ) मनुष्यत्व है। यदि मनुष्य का आन्तरिक स्वरूप ऐसा ही होता तो फिर किसी नैतिक संकट की संभावना ही कहाँ थी। वास्तव में मनुष्य तो विभिन्न वृत्तियों के अन्तर्विरोध में जीता है और इसी कारण नैतिक विमर्श की आवश्यकता होती है। छाया जी का यह कथन कि "इस जीवन के अभ्युदय तथा भावी जीवन में निःश्रेयस् की सिद्धि के लिये नैतिक होना चाहिये"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कैसे युक्तिसंगत लग सकता है जब इस जीवन में शक्ति, समृद्धि और प्रतिष्ठा अनैतिक आचरण से ही प्राप्त होती हो और किसी पुर्नजन्म की संभावना भी संदिग्ध हो ? ऐसे में नैतिकता अनावश्यक बोझ बनकर रह जाती है और पारम्परिक भारतीय मूल्य प्रणाली का प्रो. राय द्वारा किया गया विद्वत्तापूर्ण और श्रमसध्य विवेचन आकर्षित नहीं कर पाता । सफलता ही आज का चरम मूल्य है और नैतिक होना उसकी प्राप्ति में बाधा । फिर क्यों कोई नैतिक होना चाहे ?

•

यदि साधनमूल्य और साध्य मूल्य के वरीयता क्रम बदल जाने मात्र से ही यह नैतिक संकट उत्पन्न हुआ होता तो शायद नैतिक उपदेशों से कुछ सीमी तक लाभ अवश्य होता । किंतु विडम्बना तो यह है कि जिसे छाया जी साध्य मूल्य माने बैठी हैं उन्हे अधिकांश मान्यता देने को तैयार ही नहीं । उनके लिये तो वही साध्य है जिसे वे साधन मूल्य मानती हैं फिर भी विस्थापन की इस प्रक्रिया को समझने का प्रयास सराहनीय है । लेकिन जो कारण लेख में गिनाये गये हैं (ब्रिटिश शिक्षा पद्धति, उपभोक्तावादी संस्कृति, और मार्क्स, फ्रायड, डारविन की खोजें) उनमें सारा दोष पश्चिम के ऊपर थोंप दिया गया है । यहाँ ये प्रश्न उठने स्वाभाविक ही हैं कि पश्चिम में भी सदियों तक आध्यात्मिक दर्शन का बोलवाला रहा है फिर क्यों धीरे-धीरे वहाँ भौतिकवादी संस्कृति हावी होती गई ? और फिर क्या कारण था कि "आध्यात्मिक पूर्व" का सूर्य भारत भी उसके अंधेरे में डूब गया ? जिस आध्यात्मिक संस्कृति की चर्चा करते हम नहीं अघाते, क्या उसकी जनजीवन में कोई गहरी पकड़ कभी थी या नहीं ? क्या आज हम विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास को नकार कर मूल्यों की बात सोच सकते हैं ? क्या उपभोक्ता संस्कृनि से बचने के लिये संचार-क्रान्ति से मुँह मोड़ा जा सकता है ? क्या डारविन, फ्रायड और मार्क्स की खोजों के वैज्ञानिक सत्य (अंशतः ही सही) को नकारना उचित होगा ? यदि दोष आधुनिक चिन्तन में है तो क्या नैतिकता का आधार अज्ञान है ? कार्ल मार्क्स, जिसका संपूर्ण दर्शन ही पूंजीवाद (आर्थिक मूल्यों की सर्वोच्चता) के विरुद्ध है तो उस पर हमें "अर्थलोलुप" बना देने का आरोप करना दुराग्रह मात्र है । हम अपने नैतिक पतन के लिये दूसरों को जिम्मेदार ठहरना कब छोड़ेंगे ?

पारम्परिक भारतीय मूल्य प्रणाली की प्रासंगिकता सिद्ध करने के लिये उसकी युगानुरूप पुनर्व्याख्या की बात लेखिका ने उचित ही उठाई है, किन्तु यह बताने से चूक गईं कि क्या रखना है और क्या त्याग देना है, (जैसे कर्म सिद्धान्त, वर्ण व्यवस्था आदि) ? यह अलग अलग करने का विवेक मंत्र क्या होगा ? साथ ही यह भी बताना जरूरी है कि आधुनिक वैज्ञानिक विश्व को स्वीकारने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में क्या-क्या सावधानियाँ वरतनी होगी ? इसके लिये हमें परम्परागत मूल्य प्रणाली से वाहर आना पड़ेगा, क्योंकि लोकतंत्र, सामाजिक न्याय और स्वतन्त्रता ऐसी अवधारणायें हमने दूसरे समाजों से ली हैं और उन्हें अब हम छोड़ नहीं सकते । सच तो यह है कि नये युग की चुनौतियों का सामना हम पुरानी वैसाखियों के सहारे नहीं कर सकते । जरूरत पुनर्व्याख्या की नहीं, नवीन सर्जन की है जिसकी भट्ठी में पुरातन और आधुनिक दोनों को अग्निपरीक्षा से गुजरना होगा ।

आलोक टण्डन

५३, अशराफ टोला,
हरदोई (उ. प्र.) २४१००१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN ,PHILOSOPHICAL QUARTERLY PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (cds) Contemporary Philosophical **Problems** : Some Classical Indian Perspectives, Rs. 10/-

S. V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A.M. Ghose and P. K. Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M.P. Marathe, Meena A. Kelkar and P. P. Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs. 50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs. 25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs. 30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs. 100/-

Contact : 'The Editor,
Indian Philosophical Quarterly,
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महिनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुँचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएंगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने ही पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अत: विशुद्ध चिंतनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

University of Poona

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक प्रिण्ट आर्ट एण्टरप्रायजेस्, ११२१, शिवाजीनगर, पुणे ४११ ०१६ में छपंवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

लक्ष्मीकुमारी साह	:	आचार्य दिग्नाग के दर्शन में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष–एक समीक्षा	१
पीयूषकान्त दीक्षित	:	न्याय एवम् अवयव	९
बी. कामेश्वर राव	:	भारत में राष्ट्र का अन्वेषण	१९
हरिहरप्रसाद गुप्त	:	साध साषीभूत कौ अंग	४१
राजेन्द्रप्रसाद शर्मा	:	आचार्य पाणिनि की शास्त्रलाघवार्थ प्रयुक्त पद्धतियाँ	५५
रेखा सिंह	:	मोक्ष तथा पापमोचन	६३
बलिराम शुक्ल	:	नव–न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२६) कारणता	७१
बी. कामेश्वर राव	:	प्रतिक्रिया (१)	७९
आलोक टण्डन	:	प्रतिक्रिया (२)	८३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.